महारानी
कैकेयी

वन्दनीया अथवा निन्दनीया



महाराजश्री
रामकिंकरजी

महारानी कैकेयी

(मानस की दृष्टि में कैकेयी अम्बा वन्दनीया अथवा निन्दनीया)

भाष्यकार

पूज्य श्री रामकिंकरजी महाराज

प्रकाशक

रामायणम् ट्रस्ट

परिक्रमा मार्ग, जानकीघाट,

श्रीधाम अयोध्या-२२४१२३

प्रवचन स्थल : मुम्बई

सम्पादक : डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी

द्वितीय संस्करण : २०६३, गुरुपूर्णिमा, ११ जुलाई, २००६

सत्साहित्य हेतु
सहयोग राशि : रु. ६०.००

प्रकाशक
रामायणम् ट्रस्ट
परिक्रमा मार्ग, जानकीघाट,
श्रीधाम अयोध्या-२२४१२३
दूरभाष : ०५२७८-२३२१५२

मुद्रक
रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली, फोन : ०११-२२८२११७४

॥श्रीरामः शरणं मम॥

भूमिका

महारानी कैकेयी का व्यक्तित्व अद्‌भुत था। इन्हें लेकर परस्पर विरोधी धारणाएँ प्रचलित रही हैं। इस सम्बन्ध में श्रीरामचरित मानस को समझने की अनेक विधाएँ प्रचलित हैं। यदि श्रीरामचरितमानस को भगवान् राम के महानाट्य की दृष्टि से देखें तब अच्छे या बुरे का प्रश्न ही कहाँ आता है। नाट्यशाला का प्रत्येक पात्र न तो स्वयं में अच्छा होता है न बुरा। ऐसी मान्यता या धारणा को दृष्टिगत रखकर यदि विचार करें तो प्रत्येक पात्र एक अभिनय कर रहा है। रावण-कुम्भकर्ण भी उसके अपवाद नहीं हैं। फिर अच्छा या बुरा क्या? किन्तु ऐसा मान लेने पर नाटक का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

यदि गोस्वामीजी की दृष्टि भंगिमा पर विचार करें तो वे प्रत्येक पात्र को उस रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसके माध्यम से भौतिक ही नहीं आध्यात्मिक संकेतों के माध्यम से भी उनकी प्रासंगिकता सिद्ध हो सके। नाट्य के माध्यम से हमें मनोरंजन की उपलब्धि होती है पर कोई बुद्धिसंगत तात्पर्य समझ में नहीं आता। महारानी कैकेयी का चरित्र भी इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। कई लोग उसे भावुक रूप देने की चेष्टा करते हैं। जहाँ श्रीराम एकान्त क्षणों में माता कैकेयी से यह वरदान माँगते हैं कि वे बनवास के द्वारा जो लीला सम्पन्न होनी है उसमें सहायक बनें। उसमें एक अतिरिक्त भावुकता की सृष्टि की जाती है, जिसे पढ़ या सुनकर व्यक्ति द्रवित या श्रवित-सा हो जाता है, निश्चित रूप से गोस्वामी तुलसीदासजी को यह मत अभिप्रेत नहीं है। वे महारानी कैकेयी को एक कठोर समालोचक की दृष्टि से देखते हैं।

कैकेयीजी ही नहीं अपितु समाज में अनेकों लोग ऐसे दिखाई देते हैं जिनमें अचानक एक परिवर्तन-सा होता है, इसे समझने के लिए गहरे

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता है। तब ऐसी स्थिति में प्रबुद्ध व्यक्ति के अन्तःकरण में यह जिज्ञासा आना स्वाभाविक है कि व्यक्ति में ऐसा परिवर्तन क्यों और कैसे हो जाता है! मेरा मानना है कि महारानी कैकेयी के चरित्र को भी परिवर्तन की इसी पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। यही समाज और व्यक्ति के लिए कल्याणकारी है।

इस प्रस्तुतिकरण के पीछे गोस्वामी तुलसीदासजी का एक महान् उद्देश्य यह था कि वे अपने आराध्य प्रभु श्रीराम के शील और औदार्य को भी चित्रित करना चाहते थे और वे इसके द्वारा भक्तों को यह बताकर आश्वस्त करना चाहते थे कि हमारे प्रभु बड़े-से-बड़े अपराध को भी अपने कोमल स्वभाव के कारण क्षमा कर देते हैं। इसलिए गोस्वामीजी हमें श्रीराम की भक्ति करने का सन्देश देते हैं।

इस पुस्तक के सुरुचिपूर्ण प्रकाशन में जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान है, वे हैं **श्री बी. डी. कानोडिया,** जिन्होंने तीस वर्ष तक मुम्बई में जितने प्रवचन सुने उन सबको टेप से लिपिबद्ध कर जीवन के उत्तरार्ध में मेरे शिष्य मैथिलीशरण को अपने घर शिवाजी पार्क, मुम्बई में बुलाकर सौंपा। वे बड़े सुधी श्रोता रहे हैं। इतने वर्षों तक लगातार इस तरह की भावधारा का प्रवाह बिना प्रभु प्रेरणा के सम्भव नहीं है। **श्री कानोडियाजी** को मेरा आशीर्वाद। यह पुस्तक उसी संग्रह का कल्याणकारी परिणाम है।

इसके संपादक श्री चन्द्रशेखर तिवारी मेरे निकटस्थ शिष्य हैं। वे निष्काम भाव से लेखन कार्य में सहयोग करते रहते हैं, अतः उन्हें भी मेरा आशीर्वाद।

इन सबकी सेवाओं, सामर्थ्य और भावना को बड़े ही निष्ठा के साथ मेरे प्रिय शिष्य मैथिलीशरण संयोजन करके क्रियान्वित करते हैं। उनको भी मेरा आशीर्वाद। दिल्ली के श्री मदनमोहन भारद्वाज की साहित्य-सेवाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, उन्हें भी मेरा आशीर्वाद।

–रामकिंकर

॥श्रीरामः शरणं मम॥

महाराजश्री : एक परिचय

प्रभु की कृपा और प्रभु की वाणी का यदि कोई सार्थक पर्यायवाची शब्द ढूँढ़ा जाए, तो वह हैं–प्रज्ञापुरुष, भक्तितत्त्व द्रष्टा, सन्त प्रवर, 'परमपूज्य महाराजश्री रामकिंकर जी उपाध्याय।' अपनी अमृतमयी, धीर, गम्भीर-वाणी-माधुर्य द्वारा भक्ति रसाभिलाषी-चातकों को, जनसाधारण एवं बुद्धिजीवियों को, नानापुराण निगमागम षट्शास्त्र वेदों का दिव्य रसपान कराकर रससिक्त करते हुए, प्रतिपल निज व्यक्तित्व व चरित्र में श्रीरामचरितमानस के ब्रह्म राम की कृपामयी विभूति एवं दिव्यलीला का भावात्मक साक्षात्कार करानेवाले पूज्य महाराज श्री आधुनिक युग के परम तेजस्वी मनीषी, मानस के अद्‌भुत शिल्पकार, रामकथा के अद्वितीय अधिकारी व्याख्याकार हैं।

भक्त-हृदय, रामानुरागी पूज्य महाराजश्री ने अपने अनवरत अध्यवसाय से श्रीरामचरितमानस की मर्मस्पर्शी भावभागीरथी बहाकर अखिल विश्व को अनुप्राणित कर दिया है। आपने शास्त्रदर्शन, मानस के अध्ययन के लिए जो नवीन दृष्टि और दिशा प्रदान की है, वह इस युग की एक दुर्लभ अद्वितीय उपलब्धि है–

धेनवः सन्तु पन्थानः दोग्धा हुलसिनन्दनः।
दिव्यराम-कथा दुग्धं प्रस्तोता रामकिंकरः॥

जैसे पूज्य महाराजश्री का अनूठा भाव दर्शन वैसे ही उनका जीवन दर्शन अपने आप में एक सम्पूर्ण काव्य है। आपके नामकरण में ही श्री हनुमान्‌जी की प्रतिच्छाया दर्शित होती है। वैसे ही आपके जन्म की गाथा में ईश्वर कारण प्रकट होता है। आपका जन्म एक नवम्बर सन् १९२४ को जबलपुर (मध्यप्रदेश) में हुआ। आपके पूर्वज मिर्जापुर के बरैनी नामक

गाँव के निवासी थे। आपकी माता परम भक्तिमती श्री धनेसरा देवी एवं पिता पूज्य पं. शिवनायक उपाध्यायजी रामायण के सुविज्ञ व्याख्याकार एवं हनुमान्‌जी महाराज के परम भक्त थे। ऐसी मान्यता है कि श्रीहनुमान्‌जी के प्रति उनके पूर्ण समर्पण एवं अविचल भक्तिभाव के कारण उनकी बढ़ती अवस्था में श्रीहनुमत्‌जयन्ती के ठीक सातवें दिन उन्हें एक विलक्षण प्रतिभायुक्त पुत्ररत्न की प्राप्ति दैवी कृपा से हुई। इसलिए उनका नाम 'रामकिंकर' अथवा राम का सेवक रखा गया।

जन्म से ही होनहार व प्रखर बुद्धि के आप स्वामी रहे हैं। आपकी शिक्षा-दीक्षा जबलपुर व काशी में हुई। स्वभाव से ही अत्यन्त संकोची एवं शान्त प्रकृति के बालक रामकिंकर अपनी अवस्था के बच्चों की अपेक्षा कुछ अधिक गम्भीर थे। एकान्तप्रिय, चिन्तनरत, विलक्षण प्रतिभावाले सरल बालक अपनी शाला में अध्यापकों के भी अत्यन्त प्रिय पात्र थे। बाल्यावस्था से ही आपकी मेधाशक्ति इतनी विकसित थी कि क्लिष्ट एवं गम्भीर लेखन, देश-विदेश का विशद साहित्य अल्पकालीन अध्ययन में ही आपके स्मृति पटल पर अमिट रूप से अंकित हो जाता था। प्रारम्भ से ही पृष्ठभूमि के रूप में माता एवं पिता के धार्मिक विचार एवं संस्कारों का प्रभाव आप पर पड़ा। परन्तु परम्परानुसार पिता के अनुगामी वक्ता बनने का न तो कोई संकल्प था, न कोई अभिरुचि।

पर कालान्तर में विद्यार्थी जीवन में पूज्य महाराजश्री के साथ एक ऐसी चामत्कारिक घटना हुई कि जिसके फलस्वरूप आपके जीवन ने एक नया मोड़ लिया। १८ वर्ष की अल्प अवस्था में जब पूज्य महाराजश्री अध्ययनरत थे, तब अपने कुलदेवता श्री हनुमान्‌जी महाराज का आपको अलौकिक स्वप्नदर्शन हुआ, जिसमें उन्होंने आपको वटवृक्ष के नीचे शुभासीन करके दिव्य तिलक का आशीर्वाद देकर कथा सुनाने का आदेश दिया। स्थूल रूप में इस समय आप बिलासपुर में अपने पूज्य पिता के साथ छुट्टियाँ मना रहे थे। यहाँ पिताश्री की कथा चल रही थी। ईश्वर संकल्पानुसार परिस्थिति भी अचानक कुछ ऐसी बन गई कि अनायास ही, पूज्य महाराजश्री के श्रीमुख से भी पिताजी के स्थान पर कथा कहने का प्रस्ताव एकाएक निकल गया।

आपके द्वारा श्रोता समाज के सम्मुख यह प्रथम भाव प्रस्तुति थी। किन्तु कथन शैली व वैचारिक शृंखला कुछ ऐसी मनोहर बनी कि श्रोतासमाज विमुग्ध होकर, तन-मन व सुध-बुध खोकर उसमें अनायास ही बँध गया। आप तो रामरस की भावमाधुरी की बानगी बनाकर, वाणी का जादू कर मौन थे, किन्तु श्रोता समाज आनन्दमग्न होने पर भी अतृप्त था। इस प्रकार प्रथम प्रवचन से ही मानस प्रेमियों के अन्तर में गहरे पैठकर आपने अभिन्नता स्थापित कर ली।

ऐसा भी कहा जाता है कि २० वर्ष की अल्प अवस्था में आपने एक और स्वप्न देखा, जिसकी प्रेरणा से गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थों के प्रचार एवं उनकी खोजपूर्ण व्याख्या में ही अपना समस्त जीवन समर्पित कर देने का दृढ़ संकल्प कर लिया। यह बात अकाट्य है कि प्रभु की प्रेरणा और संकल्प से जिस कार्य का शुभारम्भ होता है, वह मानवीय स्तर से कुछ अलग ही गति-प्रगति वाला होता है। शैली की नवीनता व चिन्तनप्रधान विचारधारा के फलस्वरूप आप शीघ्र ही विशिष्टतः आध्यात्मिक जगत् में अत्यधिक लोकप्रिय हो गए।

ज्ञान-विज्ञान पथ में पूज्यपाद महाराजश्री की जितनी गहरी पैठ थी, उतना ही प्रबल पक्ष, भक्ति साधना का, उनके जीवन में दर्शित होता है। वैसे तो अपने संकोची स्वभाव के कारण उन्होंने अपने जीवन की दिव्य अनुभूतियों का रहस्योद्‌घाटन अपने श्रीमुख से बहुत आग्रह के बावजूद नहीं किया। पर कहीं-कहीं उनके जीवन के इस पक्ष की पुष्टि दूसरों के द्वारा जहाँ-तहाँ प्राप्त होती रही। उसी क्रम में उत्तराखण्ड की दिव्य भूमि ऋषिकेश में श्रीहनुमान्‌जी महाराज का प्रत्यक्ष साक्षात्कार, निष्काम भाव से किए गए, एक छोटे से अनुष्ठान के फलस्वरूप हुआ!! वैसे ही श्री चित्रकूट धाम की दिव्य भूमि में अनेकानेक अलौकिक घटनाएँ परम पूज्य महाराजश्री के साथ घटित हुईं। जिनका वर्णन महाराजश्री के निकटस्थ भक्तों के द्वारा सुनने को मिला!! परमपूज्य महाराजश्री अपने स्वभाव के अनुकूल ही इस विषय में सदैव मौन रहे।

प्रारम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाभूमि वृन्दावन धाम के परमपूज्य महाराजश्री, ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज के आदेश पर आप वहाँ कथा सुनाने गए। वहाँ एक सप्ताह तक रहने का संकल्प था। पर यहाँ के भक्त एवं साधु-सन्त समाज में आप इतने लोकप्रिय हुए कि उस तीर्थधाम ने आपको ग्यारह माह तक रोक लिया। उन्हीं दिनों में आपको वहाँ के महान् सन्त अवधूत श्रीउड़िया बाबाजी महाराज, भक्त शिरोमणि श्रीहरिबाबाजी महाराज, स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज को

भी कथा सुनाने का सौभाग्य मिला। कहा जाता है कि अवधूत पूज्य श्रीउड़िया बाबा, इस होनहार बालक के श्रीमुख से निःसृत, विस्मित कर देने वाली वाणी से इतने अधिक प्रभावित थे कि वे यह मानते थे कि यह किसी पुरुषार्थ या प्रतिभा का परिणाम न होकर के शुद्ध भगत्वकृपा का प्रसाद है। उनके शब्दों में—"क्या तुम समझते हो, कि यह बालक बोल रहा है? इसके माध्यम से तो साक्षात् ईश्वरीय वाणी का अवतरण हुआ है।"

इसी बीच अवधूत श्रीउड़िया बाबा से संन्यास दीक्षा ग्रहण करने का संकल्प आपके हृदय में उदित हुआ और परमपूज्य बाबा के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करने पर बाबा के द्वारा लोक एवं समाज के कल्याण हेतु शुद्ध संन्यास वृत्ति से जनमानस सेवा की आज्ञा मिली।

सन्त आदेशानुसार एवं ईश्वरीय संकल्पानुसार मानस प्रचार-प्रसार की सेवा दिन-प्रतिदिन चारों दिशाओं में व्यापक होती गई। उसी बीच काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आपका सम्पर्क हुआ। काशी में प्रवचन चल रहा था। उस गोष्ठी में एक दिन भारतीय पुरातत्त्व और साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् एवं चिन्तक श्री वासुदेव शरण अग्रवाल आपकी कथा सुनने के लिए आए और आपकी विलक्षण एवं नवीन चिन्तन शैली से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति श्री वेणीशंकर झा एवं रजिस्ट्रार श्री शिवनन्दनजी दर से Prodigious (विलक्षण प्रतिभायुक्त) प्रवक्ता के प्रवचन का आयोजन विश्वविद्यालय प्रांगण में रखने का आग्रह किया। आपकी विद्वत्ता इन विद्वानों के मनोमस्तिष्क को ऐसे उद्वेलित कर गई कि आपको अगले वर्ष से 'विजिटिंग प्रोफेसर' के नाते काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया गया। इसी प्रकार काशी में आपका अनेक सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैसे श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री महादेवी वर्मा से साक्षात्कार हुआ एवं शीर्षस्थ सन्तप्रवर का सान्निध्य प्राप्त हुआ।

अतः पूज्य महाराजश्री परम्परागत कथावाचक नहीं हैं, क्योंकि कथा उनका साध्य नहीं, साधन है। उनका उद्देश्य है भारतीय जीवन पद्धति की समग्र खोज अर्थात् भारतीय मानस का साक्षात्कार। उन्होंने अपने विवेक प्रदीप्त मस्तिष्क से, विशाल परिकल्पना से श्रीरामचरितमानस के अन्तर्रहस्यों का उद्‌घाटन किया है। आपने जो अभूतपूर्व एवं अनूठी दिव्य दृष्टि प्रदान की है, जो भक्ति-ज्ञान का विश्लेषण तथा समन्वय, शब्द ब्रह्म के माध्यम से विश्व के सम्मुख रखा है, उस प्रकाश स्तम्भ के दिग्दर्शन में आज सारे इष्ट मार्ग आलोकित हो रहे हैं! आपके अनुपम शास्त्रीय पाण्डित्य द्वारा, न केवल आस्तिकों का ही ज्ञानवर्धन होता है अपितु नई पीढ़ी के शंकालु युवकों में भी धर्म और कर्म का भाव संचित हो जाता है। 'कीरति भनिति भूति भलि सोई'....के अनुरूप ही आपने ज्ञान की सुरसरि अपने उदार व्यक्तित्व से प्रबुद्ध और साधारण सभी प्रकार के लोगों में प्रवाहित करके 'बुध विश्राम' के साथ-साथ सकल जन रंजनी बनाने में आप यत्नरत हैं। मानस सागर में बिखरे हुए विभिन्न रत्नों को सँजोकर आपने अनेक आभूषण रूपी ग्रन्थों की सृष्टि की है। मानस-मन्थन, मानस-चिन्तन, मानस-दर्पण, मानस-मुक्तावली, मानस-चरितावली जैसी आपकी अनेकानेक अमृतमयी अमर कृतियाँ हैं जो दिग्दिगन्तर तक प्रचलित रहेंगी। आज भी वह लाखों लोगों को रामकथा का अनुपम पीयूष वितरण कर रही हैं और भविष्य में भी अनुप्राणित एवं प्रेरित करती रहेंगी। तदुपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के भी आप अध्यक्ष रहे।

निष्कर्षतः आप अपने प्रवचन, लेखन और शिष्य परम्परा द्वारा जिस रामकथा पीयूष का मुक्तहस्त से वितरण कर रहे हैं, वह जन-जन के तप्त एवं शुष्क मानस में नवशक्ति का सिंचन कर रही है, शान्ति प्रदान कर समाज में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चेतना जाग्रत् कर रही है।

अतः परमपूज्य महाराजश्री का स्वर उसी वंशी के समान है, जो 'स्वर सन्धान' कर सभी को मन्त्रमुग्ध कर देती है। वंशी में भगवान् का स्वर ही गूँजता है। उसका कोई अपना स्वर नहीं होता। परमपूज्य महाराजश्री भी एक ऐसी वंशी हैं, जिसमें भगवान् के स्वर का स्पन्दन होता है। साथ-साथ उनकी वाणी के तरकश से निकले, वे तीक्ष्ण विवेक के बाण अज्ञान-मोह-जन्य पीड़ित जीवों की भ्रान्तियों, दुर्वृत्तियों एवं दोषों का संहार करते हैं। यों आप श्रद्धा और भक्ति की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित करते हुए महान् लोक-कल्याणकारी कार्य सम्पन्न कर रहे हैं।

रामायणम् ट्रस्ट परम पूज्य महाराजश्री रामकिंकरजी द्वारा संस्थापित एक ऐसी संस्था है जो तुलसी साहित्य और उसके महत् उद्देश्यों को समर्पित है। मेरा मानना है कि परम पूज्य महाराजश्री की लेखनी से ही तुलसीदासजी को पढ़ा जा सकता है और उन्हीं की वाणी से उन्हें सुना भी जा सकता है। महाराजश्री के साहित्य और चिन्तन को समझे बिना तुलसीदासजी के हृदय को समझ पाना असम्भव है।

रामायणम् आश्रम अयोध्या जहाँ महाराजश्री ने 9 अगस्त सन् 2002 को समाधि ली वहाँ पर अनेकों मत-मतान्तरों वाले लोग जब साहित्य प्राप्त करने आते हैं तो महाराजश्री के प्रति वे ऐसी भावनाएँ उड़ेलते हैं कि मन होता है कि महाराजश्री को इन्हीं की दृष्टि से देखना चाहिए। वे अपना सबकुछ न्यौछावर करना चाहते हैं उनके चिन्तन पर। महाराजश्री के चिन्तन ने रामचरितमानस के पूरे घटनाक्रम को और प्रत्येक पात्र की मानसिकता को जिस तरह से प्रस्तुत किया है उसको पढ़कर आपको ऐसा लगेगा कि आप उस युग के एक नागरिक हैं और वे घटनाएँ आपके जीवन का सत्य हैं।

हम उन सभी श्रेष्ठ वक्ताओं के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं तो महाराजश्री के चिन्तन को पढ़कर प्रवचन करते हैं और मंच से उनका नाम बोलकर उनकी भावनात्मक आरती उतारकर अपने बड़प्पन का परिचय देते हैं।

रामायणम् ट्रस्ट के सचिव श्री मैथिलीशरण शर्मा 'भाईजी' विगत 29 वर्षों से महाराजश्री की साहित्यिक सेवा का प्रमुख कार्य देख रहे हैं। इतने वर्षों से मैं यही देखती हूँ कि वे प्रतिदिन यही सोचते रहते हैं कि किस तरह महाराजश्री के विचार अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचें। साथ ही उनके सहयोगी डॉ. चन्द्रशेखर तिवारी इस महत्कार्य को पूर्ण करने में अपना योगदान देते हैं, उनको भी मैं हार्दिक मंगलकामनाएँ एवं आशीर्वाद प्रदान करती हूँ। रामायणम् ट्रस्ट के सभी ट्रस्टीगण इस भावना से ओत-प्रोत हैं कि ट्रस्ट की सबसे प्रमुख सेवा यही होनी चाहिए कि वह एक स्वस्थ चिन्तन के प्रचार-प्रसार में जनता को दिशा एवं दृष्टि दे और ऐसा सन्तुलित चिन्तन पूज्य श्रीरामकिंकरजी महाराज में प्रकाशित होता और प्रकाशित करता दिखता है। सभी पाठकों के प्रति मेरी हार्दिक मंगलकामनाएँ!

प्रभु की शरण में
—मन्दाकिनी श्रीरामकिंकरजी

क्रम

प्रथम प्रवचन

श्रीरामभद्र की महती अनुकम्पा से पुनः इस वर्ष यह अवसर मिला है कि नवरात्र के पावनप्रसंग में हम लोग यहाँ एकत्र हो सकें और रामकथा की कुछ चर्चा की जा सके। प्रसंग के विषय में भक्तिमती श्री गोपीकुमारीजी बिरला का आग्रह है कि कैकेयीजी के व्यक्तित्व को लेकर जो विवाद हैं, उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो प्रश्न हैं, उन्हें आपके सामने रखूँ। मैं समझता हूँ कि प्रसंग बड़ा ही उपयुक्त है और मानवीय जीवन की समस्याओं का उसमें बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है।

रामचरितमानस के कई ऐसे पात्र हैं कि जिनके विषय में कोई विवाद नहीं है, जिनकी वन्दनीयता सर्वमान्य है और कुछ ऐसे भी पात्र हैं, जो निन्दा के भाजन हैं और जिनकी कठोरतम निन्दा मानस में की गई है, लेकिन कैकेयीजी के चरित्र की विचित्रता यह है कि उनके विषय में यह निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि उनका चरित्र वन्दनीय है, प्रशंसनीय है या निन्दनीय है? यदि इस दृष्टि से विचार करके देखें तो हम कैकेयीजी के चरित्र को आदर्श और यथार्थ के रूप में विश्लेषित कर सकते हैं।

आदर्श का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को जैसा बनना चाहिए और यथार्थ का तात्पर्य यह है कि वस्तुतः व्यक्ति जैसा दिखाई दे रहा है या जैसा वह प्रतीत हो रहा है। हम यों कह सकते हैं कि मानस में जहाँ कई आदर्श पात्रों की सृष्टि की गई है, मानस में जहाँ आदर्श का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया गया है, वहीं पर कैकेयीजी के चरित्र के द्वारा जीवन का जो यथार्थ है, उस यथार्थ को भी उपस्थापित करने की चेष्टा की गई है। जीवन के यथार्थ का तात्पर्य यह है कि यदि किसी के विषय में यह प्रश्न किया जाए कि यह व्यक्ति अच्छा है या बुरा है तो इस प्रश्न

का उत्तर देना सरल है क्या? जीवन का यथार्थ तो यही है कि जिस व्यक्ति को हम अच्छा कहते हैं, वही व्यक्ति दूसरों की दृष्टि में बुरा होता है। इसके लिए रामचरितमानस में यह सूत्र दिया गया कि व्यक्ति का जो निर्माण हुआ है, सृष्टि का जो निर्माण हुआ है, उसकी विलक्षणता यह है कि उसका निर्माण गुण और दोष के मिश्रण से हुआ है–

कहहिं बेद इतिहास पुराना।
बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना॥ १/५/४

जैसे, मूलतः जब किसी वस्तु का निर्माण करते हैं, अथवा जब मिट्टी को मूर्ति का रूप देने की चेष्टा करते हैं तो मिट्टी में जल भी डाला जाता है, मिट्टी में कुछ और वस्तुएँ भी मिलाई जा सकती हैं और उसके पश्चात् उस मिट्टी को एक आकृति दी जाती है, एक रूप दिया जाता है तो बड़ी स्वाभाविक-सी बात है कि जब वह मूर्ति बना करके प्रस्तुत की जाएगी तो वह जिन-जिन वस्तुओं से मिलकर बनी है, वे सारी की सारी वस्तुएँ उस मूर्ति में होंगी। ठीक इसी प्रकार से व्यक्ति का जो निर्माण हुआ, ब्रह्माजी ने जो सृष्टि का निर्माण किया, वह किन वस्तुओं के मिश्रण से किया? मानस में कहा गया है कि–

कहहिं बेद इतिहास पुराना।
बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना॥ १/५/४

यह जो ब्रह्माजी का प्रपंच है, यह गुण और अवगुण के मिश्रण से बना है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि संसार के जितने व्यक्ति हैं, उनका निर्माण गुण और दोष के मिश्रण के द्वारा ही हुआ है। इसको यों कह सकते हैं कि ऐसा कोई व्यक्ति ही नहीं है कि जिसमें सद्‌गुण विद्यमान न हों और ऐसा भी कोई व्यक्ति नहीं है कि जिसमें बुराइयाँ न हों। होता यह है कि जब किसी व्यक्ति की विशेषताएँ दिखाई देती हैं या गुण हमारे सामने आते हैं तो हम उसकी प्रशंसा करने लग जाते हैं और कुछ व्यक्तियों के जीवन में इससे उल्टा दृश्य दिखाई देता है तो इसको समझाने के लिए मानस में सन्त और असन्त वन्दना के प्रसंग में गोस्वामीजी ने एक दृष्टान्त दिया है। मानस में सन्तों की वन्दना के साथ-साथ असन्तों की भी वन्दना की गई है। जब दोनों की वन्दना की गई तो उन दोनों में क्या अन्तर है? गोस्वामीजी ने एक दृष्टान्त देकर बताया कि दोनों में अन्तर केवल एक है और वह अन्तर यह है कि–

सम प्रकास तम पाख दुहुँ नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि सोषक पोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह॥ १/७ (ख)

एक मास के दो पक्ष होते हैं–कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। साधारणतया सुनने से ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्णपक्ष का अर्थ यह होता है कि जिसमें कालापन या अन्धकार है और शुक्लपक्ष का अर्थ है कि जिसमें उज्ज्वलता है, प्रकाश है, पर क्या यह सत्य है? क्या कृष्णपक्ष में केवल अँधेरा ही अँधेरा होता है? और क्या शुक्लपक्ष में केवल प्रकाश ही प्रकाश है? सबको यह ज्ञान है कि ऐसा नहीं है। प्रत्येक पक्ष में प्रकाश और अन्धकार दोनों हैं और बराबर मात्रा में हैं। जितने घण्टों का प्रकाश कृष्णपक्ष में है, उतने ही घण्टों का प्रकाश शुक्लपक्ष में है, जितने घण्टों का अन्धकार कृष्णपक्ष में है, उतने ही घण्टों का अन्धकार शुक्लपक्ष में भी है।

इसका अभिप्राय यह है कि रात्रि का जो निर्माण हुआ है, वह प्रकाश और अन्धकार दोनों के मिश्रण से ही हुआ है। फिर एक पक्ष का नाम कृष्णपक्ष और दूसरे का नाम शुक्लपक्ष रखा गया, इसका तात्पर्य क्या है? गोस्वामीजी इसका जो उत्तर देते हैं, वह जीवन के लिए बड़ा सार्थक और महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा कि दोनों में अन्तर यह है कि दोनों पक्षों में जीवन के क्रम का एक परिवर्तन पाते हैं। वह परिवर्तन यह है कि जब कृष्णपक्ष की प्रतिपदा प्रारम्भ होती है तो प्रतिदिन चन्द्रमा घटने लगता है, प्रतिदिन प्रकाश की मात्रा घटती जाती है और अन्त में अब अमावस्या की तिथि आती है तो उस रात्रि में प्रकाश का लेश भी नहीं दिखाई देता और चारों ओर सघन अन्धकार ही दिखायी देता है।

इसके विपरीत शुक्लपक्ष की विशेषता यह है कि प्रतिपदा को ऐसा लगता है कि जैसे चन्द्रमा है ही नहीं, चन्द्रमा का दर्शन ही नहीं होता, लेकिन ज्यों-ज्यों तिथियाँ व्यतीत होती जाती हैं, अर्थात् द्वितीया को चन्द्रमा की एक रेखा-सी दिखाई पड़ती है और वह धीरे-धीरे बढ़ती जाती है, प्रकाश की वृद्धि होते-होते जब पूर्णिमा की तिथि आती है तो उस रात में पूर्ण चन्द्रमा दिखाई देता है और पूर्ण प्रकाश दिखाई देता है। इस प्रकार दोनों पक्षों का अन्तर यह है कि एक पक्ष में प्रकाश से अन्धकार की ओर जा रहे हैं, जो कृष्णपक्ष है और दूसरे पक्ष में अन्धकार से प्रकाश की ओर जा रहे हैं, जो शुक्लपक्ष कहलाता है। सन्त और असन्त का अन्तर भी केवल यही है।

सृष्टि का जो निर्माण ब्रह्माजी ने किया है, उसमें व्यक्ति का निर्माण तो वस्तुतः गुण और दोष से मिलकर ही हुआ है। जो व्यक्ति अपने जीवन को धीरे-धीरे तमोमय अन्धकार में पैठा देता है, वह असन्त है, निन्दनीय है और जो व्यक्ति अपने जीवन में सद्गुणों का धीरे-धीरे विकास करता हुआ, साधना का विकास करता हुआ, अपने जीवन को परिपूर्णता की ओर ले जाता है, अपने जीवन को प्रकाश की ओर ले जाता है, वह सन्त है, वन्दनीय है। ऐसी स्थिति में यह कह सकते हैं कि गुण और दोष का मिश्रण ही प्रकृति का मूल तत्त्व है इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति गुण और दोष के मिश्रण से बना हुआ है।

साधारणतया हम इस बात के अभ्यस्त हो गए हैं कि किसी व्यक्ति को या तो गुण के रूप में देखें या दोष के रूप में देखें। परन्तु कुछ पात्रों के माध्यम से मानो गोस्वामीजी यह सत्य प्रस्तुत करना चाहते हैं कि वस्तुतः जीवन में दोनों पक्ष विद्यमान हैं, गुण और अवगुण दोनों विद्यमान हैं। कुछ पात्रों के द्वारा हम यह सीख सकते हैं कि अपने जीवन में सद्गुणों का विकास कैसे करें? और कुछ पात्रों से हमें जीवन में ऐसा दिखाई देता है कि सद्गुणों का ह्रास कैसे होता है? और कैसे व्यक्ति धीरे-धीरे अन्धकार की ओर बढ़ता जाता है?

गोस्वामीजी कैकेयी जैसे पात्रों का जो चरित्र प्रस्तुत करते हैं, वह साधारण दृष्टि से भले ही ऐसा लगता हो कि यह तो विरोधाभास है, पर अगर विचार करके देखें तो उनका जीवन हमारे और आपके जीवन के निकट है और जैसे हमारा जीवन विरोधाभासों से भरा हुआ है, वैसे ही कैकेयीजी का जीवन भी विरोधाभासों से भरा हुआ है। व्यक्ति का जीवन जैसे अच्छाई और बुराई का एक विचित्र मिश्रित रूप है, वैसे ही कैकेयीजी का चरित्र भी इन दोनों का एक मिश्रित रूप है।

कभी-कभी मानस में गोस्वामीजी एक ही पात्र के लिए बड़ा प्रशंसात्मक शब्द लिख देते हैं और निन्दात्मक शब्द भी लिख देते हैं। उदाहरण के लिए मारीच को ले लें। मारीच प्रशंसनीय है कि निन्दनीय है? मारीच का प्रसंग तो बड़ा छोटा-सा है, नन्हा-सा है, लेकिन इस नन्हे से प्रसंग में गोस्वामीजी ने मारीच के लिए ऐसी बात लिख दी कि जिसे पढ़कर साधारणतया बड़ा अटपटा-सा लगता है। जब श्रीराम ने मारीच पर बाण का प्रयोग किया तो कहा कि मारीच खल है, दुष्ट है—

खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा।
सोह चाप कर कटि तूनीरा॥ ३/२७/१

दो पंक्तियों के पूर्व ही गोस्वामीजी लिखते हैं कि—

अन्तर प्रेम तासु पहिचाना।
मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥ ३/२६/१७

थोड़ी पंक्तियों के पूर्व लिखा है—

अस जियँ जानि दसानन संगा।
चला राम पद प्रेम अभंगा॥ ३/२५/७

एक ओर कहते हैं कि मारीच के अन्तःकरण में राम के चरणों के प्रति अभंग प्रेम है और दूसरी ओर कहते हैं कि मारीच खल है। दो अलग-अलग व्यक्तियों में से एक व्यक्ति यदि मारीच को प्रेमी बताए और दूसरा व्यक्ति उसको दुष्ट बताए तो भी समझ में आ सकता है, परन्तु एक ही प्रसंग में गोस्वामीजी मारीच को दोनों उपाधि दे देते हैं—दुष्ट और प्रेमी की, यह बड़ा विचित्र-सा लगता है, पर जीवन की दृष्टि से यदि विचार करके देखें तो आपको लगेगा कि यह विचित्र नहीं है, यही यथार्थ है। मारीच क्या है?

मनुष्य का चंचल मन ही मारीच है। यह वेश बदलने की कला में अत्यन्त निपुण है और यह बड़ा चंचल है, इसकी गति बड़ी तीव्र है। ये दोनों बातें हमारे मन में भी हैं। वस्तुतः हमारे और आपके अन्तःकरण में भी एक-एक मारीच विद्यमान है। हमारा-आपका मन ही मारीच है। जो कला मारीच के पास थी, वही मन के पास भी है। व्यंग्यात्मक बात लिखी गई है कि भागने में उसकी गति इतनी तीव्र थी कि भगवान् को भी उसको पकड़ने में थोड़ी कठिनाई हुई।

अर्जुन ने भी गीता में भगवान् से यही कहा कि—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ गीता-६/३४

वायु को पकड़ना चाहे सरल हो, पर मन को पकड़ना सरल नहीं है। मन की गति की तीव्रता भी मारीच में दिखाई देती है और वेश बदलने की कला में भी मारीच के समान ही हमारा मन भी बड़ा चतुर बहुरूपिया है, दिन में इसके कितने रूप दिखाई देते हैं। विनयपत्रिका में इसके बहुरूपियेपन का संकेत करते हुए कहा कि—

दीनबंधु, सुखसिंधु, कृपाकर, कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ! मन जरत त्रिविध जुर, करत फिरत बौराई॥ वि.प. ८१/१

मारीच की तरह मन भी अच्छा है या बुरा है? इसका उत्तर वही है कि जो गोस्वामीजी ने दिया कि मन से बढ़कर कोई अच्छा नहीं और मन से बढ़कर कोई बुरा नहीं है। उसके कपट से जब रावण सीताजी का हरण करने में समर्थ होता है तो उस समय उसको कौन-सी उपाधि दी जाए? इसका अर्थ है कि जब हमारा मन भगवान् और शान्ति को दूर कर दे, भगवान् और भक्ति को दूर बना दे, हमारे जीवन में कपट और दम्भ की सृष्टि करे तो मन से बढ़कर दुष्ट कौन होगा? जब मारीच पर भगवान् राम ने बाण का प्रहार किया, उसके पूर्व गोस्वामीजी लिख चुके हैं कि मारीच रामप्रेमी है तो समस्या यह आई कि क्या यही राम हैं कि जो अपने प्रेमी के ऊपर बाण का प्रहार करते हैं। एक ओर तो आप भगवान् की कृपा और उदारता की बड़ी प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर आप लिखते हैं कि श्रीराम ने प्रेमी के ऊपर बाण का प्रयोग किया। गोस्वामीजी ने कहा कि नहीं, भगवान् राम ने तो दुष्ट मारीच के ऊपर प्रहार किया था। इसका अभिप्राय क्या है? यदि इसको अन्तरंग अर्थों में आप देखें तो मन की दो स्थितियाँ हैं। बड़ा प्रसिद्ध श्लोक आपने सुना है कि–

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बन्धन और मोक्ष दोनों का हेतु मन है। जब हमारे अन्तःकरण में या मन में असत् संकल्प आते हैं, कपट और दम्भ का उदय होता है, बुराइयाँ आती हैं, तब हमारा मन दुष्ट हो जाता है। भगवान् राम ने मारीच पर प्रहार नहीं किया, बल्कि मारीच की दुष्टता पर प्रहार किया और बाण लगते ही मारीच की गति समाप्त हो गई। अभिप्राय यह है कि श्रीराम द्वारा मन की चंचलता पर प्रहार हुआ। इसके साथ-साथ दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि उसका कपट भी समाप्त हो गया–

प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा।
सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥ ३/२६/१६

बाण लगने से उसकी चंचलता समाप्त हो गई और उसका कपट समाप्त हो गया और ऐसा होने के बाद गोस्वामीजी ने कहा कि–

निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ। ३/२७

मारीच को श्रीराम ने अपने आपमें लीन कर लिया। इसका अभिप्राय है कि जब हमारा मन शान्त हो जाता है और कपट का त्याग कर देता है, तब वह भगवान् से एकाकार हो करके धन्य हो जाता है और दूसरी ओर जब हमारा मन मारीच की भाँति कुवृत्तियों की सृष्टि करता है तो वह दुष्ट असुर है। भगवान् की कथा में प्रेम से आँसू बहाने वाला कौन है? मन ही है और कभी जीवन में इसका उल्टा व्यवहार भी दिखाई देता है। जो व्यक्ति कथा में प्रेम से आँसू बहाता है, वही व्यक्ति कभी-कभी विपरीत आचरण करते हुए जब देखा जाता है तो लोग उसको कह देते हैं कि यह तो पाखण्डी है। वस्तुतः वह पाखण्डी नहीं है। उस विपरीत काल में उसके मन का कलुष सामने आ जाता है। ये दोनों परिस्थितियाँ एक ही मन की हैं। जिस मारीच को खल कहा गया, उसी मारीच को जब बाण लगा तो उसमें परिवर्तन हो गया और तब कहा गया कि–

अंतर प्रेम तासु पहिचाना।
मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥
बिपुल सुमन सुर बरषहिं गावहिं प्रभुगुन गाथ।
निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ॥ ३/२७

मारीच की जो दशा है, वही मन की भी अन्तर्दशा है। मानो दो संकेत हैं कि हम जब प्रेम से भगवान् का स्मरण करते हैं और कपट का परित्याग कर देते हैं, तब हमारे मन का सदुपयोग होता है और जब हमारा मन कपट और पाखण्ड के द्वारा श्रीराम और सीता में दूरी उत्पन्न करने की चेष्टा करता है तो यही मन का दुरुपयोग है। मारीच की कथा केवल उस काल की ही कथा मात्र नहीं है, यह दृश्य जो विरोधाभासों से भरा हुआ है, निरन्तर हमारे जीवन में दिखाई देता रहता है।

रामायण के कुछ पात्र ऐसे भी हैं कि जिनके चरित्र में गुण ही गुण दिखाई देते हैं, वे तो वन्दनीय हैं ही, वे तो आदर्श पात्र हैं, परन्तु रामायण में ये दो पात्र ऐसे हैं–सतीजी और महारानी कैकेयी, इन दोनों के प्रसंगों में गोस्वामीजी ने उस मनोवैज्ञानिक तथ्य का उल्लेख किया है कि जो हमारे-आपके जीवन से जुड़ा हुआ है। कैकेयीजी के जीवन के जो दो पक्ष हैं, वे ही दोनों पक्ष हमारे-आपके जीवन से भी जुड़े हुए हैं। होता यह है कि कुछ लोग जब कैकेयीजी की प्रशंसा करने लगते हैं तो उनकी प्रशंसा की भी सीमा नहीं रह जाती और निन्दा करने वाले भी बड़ी कटु आलोचना कर देते हैं।

कुछ लोग मुझसे भी यह प्रश्न कर बैठते हैं कि कैकेयीजी निन्दनीया हैं कि वन्दनीया हैं? मुझे तब यही कहना पड़ता है कि उनके लिए एक शब्द कह देना सरल नहीं है। कैकेयीजी की प्रशंसा करने वाला इतना बड़ा व्यक्ति है कि किस मुँह से हम यह कहें कि ये ठीक नहीं कह रहे हैं? लेकिन कैकेयी की निन्दा करने वाले भी इतने महान् हैं कि हम उनकी बात को भी गलत नहीं कह सकते। दोनों रामायण के सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं। एक हैं भगवान् राम, वे तो केन्द्र हैं ही और दूसरी ओर हैं सन्त भरत, जो भगवान् राम से अभिन्न हैं, उनसे एकाकार हैं। सन्तों में भरत से बढ़कर कोई नहीं और ईश्वर के रूप में राम से बड़ा कोई नहीं और दोनों में ही अपनत्व की, प्रेम की पराकाष्ठा है। श्रीराम तो भरत के लिए यहाँ तक कह देते हैं कि–

भरतहि मोहि कछु अन्तर काऊ। ७/३५/७

मुझमें और भरत में कोई अन्तर नहीं, परन्तु एक ऐसा प्रसंग है कि जहाँ भगवान् राम और श्रीभरत की विचारधारा में बड़ा अन्तर दिखाई देता है, बड़ा मतभेद दिखाई पड़ता है। श्रीभरत की मान्यता यह है कि कैकेयी बड़ी निन्दनीया हैं। रामायण में कैकेयीजी के लिए जो कठोर से कठोर शब्द हो सकते हैं, वे श्रीभरतजी ने कहे हैं–

बर मागत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥
भूपँ प्रतीति मोरि किमि कीन्ही।
मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही॥
बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी।
सकल कपट अघ अवगुन खानी॥ २/१६१/२-४

इन शब्दों में भरतजी कैकेयीजी की घोरतम निन्दा करते हैं और इसके विपरीत भगवान् श्रीराम उनकी प्रशंसा करते हैं। यह प्रेमभरा मतभेद श्रीराम के सामने और मुखर होकर सामने आ गया, जब चित्रकूट में सभा हुई। श्रीभरत ने कहा कि मैं अकेला कैकेयी की निन्दा नहीं कर रहा हूँ, बल्कि–

जननी कुमति जगतु सबु साखी। २/२६१/१

मानो संकेत यह था कि सभा में इतने लोग बैठे हुए हैं, अगर विश्वास न हो तो इन लोगों से पूछ लीजिए, ये सब मेरी बात के गवाह हैं कि

कैकेयी कितनी निन्दनीया हैं? सचमुच सभा में जितने लोग बैठे थे, सभी कैकेयीजी के निन्दक थे, गुरु वसिष्ठ से लेकर निषादराज तक। समाज में सर्वोच्च स्थान है गुरु वसिष्ठ का और सबसे साधारण स्थान है निषाद का, पर कैकेयी की निन्दा में दोनों एक जैसे हैं। गुरु वसिष्ठ ने–

प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी।
कैकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी॥ २/१७०/५

कैकेयी कुटिल हैं, ऐसी गुरु वसिष्ठ की दृष्टि है और निषादराज की दृष्टि में–

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनन्दन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ २/९१

कुटिल ही नहीं, मन्द बुद्धि भी हैं कैकेयी। कैकेयी मन्दबुद्धि इसलिए भी हैं कि उन्होंने दूसरों को तो कष्ट पहुँचाया ही, उन्होंने अपना भी अकल्याण किया। यही मन्दबुद्धित्व का लक्षण है। सारी सभा के लोग जिसके विपरीत हों, वहाँ उस सभा में उसके पक्ष में बोलना तो भाषणदाता के लिए एक बड़ी समस्या है। श्रीराम ने बड़ी चतुराई से अपने भाषण के प्रारम्भ में श्रीभरत की बड़ी प्रशंसा की, उसके बाद कैकेयीजी की प्रशंसा की और उसके बाद फिर भरतजी की प्रशंसा की। यह बड़ा विचित्र-सा लगता है। कैकेयीजी की प्रशंसा करने के बाद भरतजी की प्रशंसा करते तो भी ठीक था, पर पहले भरत की प्रशंसा, पुनः कैकेयी की प्रशंसा और फिर भरतजी की प्रशंसा की, इसका उद्देश्य क्या है? भगवान् के सामने बड़ी समस्या आ गई। वे समझ गए कि यहाँ तो सभी लोग भरत के मत के ही समर्थक हैं और कैकेयी के विरोधी हैं। इसलिए यदि मैं सीधे-सीधे कैकेयीजी की प्रशंसा करूँगा तो उसे कोई व्यक्ति सरलता से स्वीकार नहीं कर सकेगा। ऐसी परिस्थिति में मैं क्या करूँ? श्रीराम ने चतुराई से जब भाषण प्रारम्भ किया तो सुनकर यही लगा कि ये भरत की प्रशंसा में ही भाषण दे रहे हैं। कई पंक्तियों में भरत की प्रशंसा करने से सब श्रोता लोग रस में डूब गए, क्योंकि–

भरतु प्रानप्रिय भे सबही के। २/१८४/२

और जब श्रीराम ने देखा कि इस समय सारे श्रोता भरतजी की प्रशंसा के रस में डूबे हुए हैं तो प्रभु ने अपनी भाषण कला का प्रयोग करते हुए तुरन्त श्रोताओं को दूसरी दिशा में मोड़ने की चेष्टा की और

कहा कि इतने बड़े सन्त भरत को जन्म देने वाली माता कैकेयी को छोड़कर और कोई वन्दनीया है क्या? जिस माँ ने इतने बड़े सन्त को जन्म दिया, क्या वह माँ स्वयं बुरी हो सकती है? मोती का जन्म जहाँ से होता है, वहीं से तो होगा। आम के वृक्ष से ही तो आम का फल होता है। जो वृक्ष होता है, वही फल होता है। जब फल के रूप में भरत के विषय में कोई सन्देह नहीं है तो फिर वृक्ष के रूप में कैकेयी अम्बा के विषय में जो आपके विचार हैं, वे मुझे तो उचित नहीं प्रतीत होते। तब भगवान् ने कैकेयी की प्रशंसा में एक ही वाक्य कहा कि–

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८

'**जननी**' शब्द का प्रयोग किया है, जो शब्द बड़ा साहित्यिक है, विवेक की दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। माँ नहीं कहा, बल्कि जननी कहा और उसके द्वारा संकेत यह किया कि कैकेयी भरत को जन्म देने वाली हैं। यदि कोई अयोध्या का नागरिक यह कह दे कि श्रीभरत तो कैकेयीजी को जननी मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं, वे तो उनका परित्याग किए हुए हैं तो प्रभु ने मुस्कराकर लोगों की ओर इस दृष्टि से देखा कि अच्छा तो आप लोगों का मेरे विषय में क्या विचार? अब प्रभु के विषय में तो कोई प्रश्न ही नहीं है। तो प्रभु ने कहा कि भरत यदि जननी नहीं कहते तो क्या हुआ? वे मेरी जननी तो हैं ही और यह भी कह दिया कि मेरी जो जननी हैं, वे क्या आपके लिए वन्दनीया नहीं हैं? पूजनीया नहीं हैं? जिन कैकेयीजी के चरणों में मैं नतमस्तक होता हूँ। मेरा जन्म भले ही संसार की दृष्टि से कौसल्या अम्बा के उदर से हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि चाहे आप कैकेयी को मेरी जननी के रूप में देखें, चाहे भरत की जननी के रूप में देखें, कैकेयीजी की निन्दा करना, मानो हम दोनों की निन्दा करना है। वे कैकेयीजी की प्रशंसा के रस में इतने डूबे कि उनके मुख से एक वाक्य निकल पड़ा कि–

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८

जो कैकेयीजी जैसी जननी को दोष देते हैं, वे जड़ हैं, जिन्होंने सत्संग नहीं किया, जिन्होंने गुरुजनों की सभा का सेवन नहीं किया, वे ही लोग हमारी माँ कैकेयी को दोष देते हैं। भगवान् श्रीराघवेन्द्र को बाद में भरत की प्रशंसा

क्यों करनी पड़ी? अचानक फिर भाषण बदलना पड़ा, क्योंकि भगवान् कहने को तो कह गए कि जो माता कैकेयी को दोष देते हैं, वे तो जड़ हैं, परन्तु यह कहते ही उनका ध्यान भरतजी की ओर चला गया, इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि श्रीराम यह कहना चाहते हैं कि भरतजी जड़ हैं, क्योंकि भरतजी ही तो निन्दा कर रहे हैं, आलोचना कर रहे हैं। तब तुरन्त उन्होंने बात को सँभाला कि नहीं, नहीं, मेरा यह मतलब नहीं है। बस, दोनों ने दो अर्थ लिया। श्रीभरत से यदि कोई पूछे कि राम कैकेयीजी की प्रशंसा करते हैं, वह ठीक है कि नहीं? तो भरत कहेंगे कि प्रभु राम की प्रशंसा कैकेयी के गुणों को देखकर नहीं है, बल्कि वे तो अपने स्वभाव के कारण प्रशंसा कर रहे हैं। रामायण में प्रभु का स्वभाव बतलाते हुए कहा गया, श्रीलक्ष्मणजी ने कहा कि–

नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान॥ २/२२७

महाराज! आप कितने भोले स्वभाव के हैं कि सबको अपनी तरह देखते हैं। जिस समय भगवान् राम कैकेयीजी की प्रशंसा करने लगे और भरतजी गद्‌गद हो गए। यह देखकर प्रभु प्रसन्न हो गए कि मेरे भाषण का प्रभाव पड़ रहा है, लेकिन बाद में जब श्रीराम ने पूछा कि भरत! जब मैं कैकेयी की प्रशंसा कर रहा था, तब तुम गद्‌गद हो गए थे, इससे लगा कि तुमको मेरी बात बिल्कुल ठीक लगी थी। भरत बोले कि नहीं महाराज! मैं कथा सुनकर गद्‌गद नहीं हो रहा था। मैं तो कथावाचक की महत्ता देखकर गद्‌गद हो रहा था कि जिस माँ ने इतना अनर्थ किया और इनको इतना कष्ट दिया, उसकी भी जो ऐसी प्रशंसा करें, वे प्रभु कितने महान् हैं? मुझे तो आपके भाषण में आपकी महत्ता दिखाई दे रही थी, कैकेयी की महत्ता कहीं नहीं दिखाई दे रही थी। प्रभु ने कहा कि भरत जो आलोचना करते हैं, वह जड़ता के कारण नहीं। जड़ता भी है तो उस जड़ता को भगवान् राम एक नया रूप दे देते हैं। एक जड़ता होती है अज्ञानजन्य और एक जड़ता होती है प्रेमजन्य। नासमझी के कारण जो जड़ता होती है, वह तो निन्दनीय है, परन्तु प्रेमजन्य जो जड़ता होती है, वह प्रशंसनीय है। श्रीभरत में यह विलक्षणता है कि वे जड़ को चेतन और चेतन को जड़ बना दें। वे कैकेयी की जो निन्दा करते हैं, यह उनके स्नेह की जड़ता है, अज्ञानजन्य जड़ता नहीं है–

सो सनेह जड़ता बस करहू।

भरतजी प्रेम में इतने डूब गए कि मुझे जहाँ कष्ट दिखाई दे रहा है, जिसको ये निमित्त मान रहे हैं, उसके प्रति इनके अन्तःकरण में प्रेम का अतिरेक होने के कारण, प्रेमजन्य जड़ता के कारण आलोचना कर रहे हैं। वस्तुतः कैकेयी अम्बा हमारे लिए श्रेष्ठ तो हैं ही, लेकिन श्रीभरत भी कम वन्दनीय नहीं हैं, इसलिए भगवान् श्रीराघवेन्द्र कैकेयी अम्बा की प्रशंसा को बीच में रख करके, भरत की प्रशंसा दो बार करके, मानो अपने उस भाषण को सन्तुलित करना चाहते हैं।

रामायण के दो पात्र ऐसे हैं कि जब हम उनकी निन्दा करना चाहते हैं तो एक नाम ले लेते हैं और जब प्रशंसा करना चाहते हैं तो दूसरा नाम ले लेते हैं। वे दो पात्र हैं, एक तो सतीजी और दूसरी कैकेयीजी। सतीजी की प्रशंसा करना चाहते हैं तो कह देते हैं कि ये शंकरजी की पत्नी हैं, भवानी हैं, इनसे बढ़कर कौन होगा? और जब निन्दा करनी होती है तो कह देते हैं कि ये दक्षराज की बेटी हैं, इनसे बढ़कर अभिमानी कौन होगा? दो नाम चुन लिए। जब कथा सुनने जा रही हैं तो कहा कि–

संग सती जगजननि भवानी। १/४७/२

और जब कथा में जाकर भी बिना सुने लौट आई तो कहा–

मुनि सन बिदा मागि त्रिपुरारी।
चले भवन संग दच्छकुमारी॥ १/४७/६

सुनने चलीं तो भवानी और नहीं सुना तो दक्षकुमारी। शंकरजी की पत्नी के रूप में विश्वास की प्रिया हैं, इसलिए सुनने की इच्छा है और नहीं सुना तो उनको चतुराई का अहंकार है, इसलिए नहीं सुना। जिसमें विश्वास होता है, वह दूसरे की बात ध्यान से सुनता है और जिसमें अपनी बुद्धिमत्ता का अहंकार होता है, वह दूसरे की बात को ध्यान से नहीं सुनता। वैसे ही कैकेयीजी के भी दो नाम दिए गए, जब निन्दा करनी होती है तो कैकयनन्दिनी कहते हैं तथा प्रशंसा करनी होती है तो भरत की माँ कहा जाता है। कैकेयीजी श्रीदशरथजी महाराज की महारानी हैं, श्रीभरत की माँ हैं, पर नाम क्या है? जो निषादराज ने दिया–

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह। २/९१

अरे! ये तो कैकयराज की पुत्री हैं, जो बड़ी मन्दमति हैं और जब कैकेयीजी की प्रशंसा करनी होती है तो भरत की माता कहते हैं। जब

कैकेयीजी ने मन्थरा को कसकर फटकारा, तब किसी ने नहीं कहा कि आज तो कैकयनन्दिनी ने मन्थरा को कसकर फटकारा, तब बोले कि नहीं, नहीं, कैकय की बेटी ने नहीं फटकारा, तब किसने फटकारा? कहा कि–

तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरतमातु मुसुकानि। २/१४

ये भारत की माँ हैं, भई! सती के दो परिचय हैं–शिवजी की प्रिया और दक्ष की पुत्री। वैसे ही कैकेयीजी के भी दो परिचय हैं–कैकयराज की पुत्री और श्रीभरत की माता। जब कैकयराज के चरित्र का जो असद्पक्ष है, वह सामने आता है, तब वे कैकयनन्दिनी हो जाती हैं और जब उनके चरित्र में श्रीभरत जैसे सन्त का सद्गुण दिखाई देता है, तब वे **भरतमातु** प्रतीत होती हैं। ये दो पक्ष हैं। साधना की दृष्टि से मानो कैकेयीजी के चरित्र की सबसे बड़ी प्रेरणा यह है कि उनके प्रसंग को पढ़कर उनकी निन्दा या प्रशंसा से हमको कोई लाभ नहीं है। लाभ किससे है? गोस्वामीजी से किसी ने पूछा कि आप सन्तों के गुण और असन्तों के दोष का वर्णन क्यों कर रहे हैं? क्या इसलिए कि जिससे हम सन्तों से प्रेम और असन्तों से घृणा करें? नहीं, नहीं। हम सन्तों की महिमा इसलिए गाते हैं कि जिसे सुनकर हमारे मन में भी सन्त बनने की प्रेरणा हो और असन्त की निन्दा इसलिए करते हैं कि हम अपने जीवन में असन्तत्व के जो दो दोष हैं, उन दोषों से बचने की चेष्टा करें–

संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने। १/५/२

हमारे जीवन में सद्गुणों का संग्रह हो, बुराइयों का त्याग हो, यह अच्छाई और बुराई का उद्देश्य है। अच्छाई के कारण यदि हम किसी की प्रशंसा कर दें और बुराई के कारण यदि किसी की आलोचना कर दें तो हमने सही लाभ नहीं लिया, तो भई! कैकेयीजी के व्यक्तित्व के ये जो दो पक्ष हैं, यही सचमुच जीवन के यथार्थ हैं। इन दोनों पक्षों का तात्पर्य क्या है? इनके जीवन में कैसे कैकयराज के जीवन के दुर्गुण प्रकट हाते हैं और उससे कैसे अनर्थ की सृष्टि होती है? कैसे किस प्रकार से वे भगवान् श्रीराम को अत्यन्त प्रिय प्रतीत होती हैं? यही उनके जीवन का पक्ष है। कल से मैं आपके समक्ष इसकी चर्चा करूँगा।

□□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

द्वितीय प्रवचन

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८
कैकय नंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ २/९१

उपर्युक्त एक चौपाई और एक दोहे में कैकेयी अम्बा के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं। एक ओर श्रीभरत, गुरु वसिष्ठ और निषादराज कैकेयीजी की कटु आलोचना करते हैं, उनकी निन्दा और भर्त्सना करते हैं और दूसरी ओर भगवान् श्रीराम के द्वारा कैकेयीजी की प्रशंसा की जाती है। इन दोनों में परस्पर विरोध जैसा प्रतीत होता है। इन दोनों में से हम किसे यथार्थ मानें? इसका उत्तर यही है कि सचमुच कैकेयी अम्बा का जीवन परस्पर विरोधाभासों से भरा हुआ है। और दो भिन्न दृष्टियों से देखने पर उनका चरित्र दो रूपों में हमारे सामने आता है। कल कथा के अन्त में एक संकेत सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया था, उसको आज और स्पष्ट करना चाहूँगा।

गोस्वामीजी भी कैकेयीजी की प्रशंसा और निन्दा के लिए दो शब्दों का प्रयोग करते हैं। प्रशंसा के समय उनका परिचय भरत की जननी या माँ कहकर देते हैं और निन्दा के समय कैकयराज की बेटी के रूप में उनका परिचय देते हैं। भरत की माँ और कैकयराज की बेटी का तात्पर्य क्या है? आइए! इस पर थोड़ा आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें। अगर शाश्वत् दृष्टि से रामचरितमानस के आध्यात्मिक स्वरूप पर विचार करें तो महाराज श्रीदशरथ तो मानो मूर्तिमान् वेद हैं और गोस्वामीजी अपनी पंक्तियों में–

धरम धुरंधर गुननिधि ग्यानी।
हृदयँ भगति मति सारँगपानी॥ १/१८७/८

कह करके उनका परिचय देते हैं, पर उसके साथ-साथ एक वाक्य वहाँ और जुड़ा हुआ है कि–

बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊँ। १/१८७/७

चाहे यह कहें कि महाराज श्रीदशरथजी वेदों में प्रसिद्ध हैं और दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि महाराज श्रीदशरथ मानो साक्षात् वेद हैं। महाराज दशरथ के द्वारा भगवान् राम का प्राकट्य भगवान् राम की प्राप्ति का तात्पर्य ही यह है कि वेद का चरम उद्देश्य ही ईश्वर की प्राप्ति है और महाराज दशरथ की जो तीनों रानियाँ हैं, वे वेद में जिन तीन मार्गों का वर्णन है, वे ही हैं।

वेदों के तीन भाग हैं, एक भाग में ज्ञान की प्रधानता है, जहाँ मन्त्रों में ज्ञान की महिमा का प्रतिपादन है और कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें उपासना ओर भक्ति की महिमा परिलक्षित होती है और अधिकांश मन्त्र ऐसे हैं कि जिनमें कर्मकाण्ड या क्रिया का रूप परिलक्षित होता है। इसको यों कह लें कि जैसे एक व्यक्ति स्वस्थ तब माना जाएगा, जब उसका शरीर, हृदय और मस्तिष्क तीनों का समन्वय होता है और तीनों ठीक-ठीक कार्य करते हैं। यदि शरीर नहीं होगा तो मस्तिष्क और हृदय रहेंगे कहाँ? इसलिए शरीर तो मस्तिष्क और हृदय का आधार है ही, पर शरीर के रहते हुए भी अगर हृदय गतिशून्य हो जाए, हृदय यदि काम करना बन्द कर दे तो शरीर का स्वास्थ्य किसी काम का नहीं, वह मृत्यु का ग्रास बन करके अन्त में जला देने योग्य हो जाएगा, तो शरीर भी चाहिए और उसके साथ-साथ उसको रक्त देने वाला और संचालित करने वाला हृदय भी चाहिए, पर उसके साथ-साथ एक ऐसी स्थिति भी आती है कि जब हृदय की गति ठीक काम कर रही है और शारीरिक दृष्टि से भी व्यक्ति स्वस्थ है, लेकिन यदि उसका मस्तिष्क ठीक नहीं है तो उसका परिणाम क्या होगा? उसे क्या कहें? जीवित कहें कि मृत कहें? वह तो पागलपन की स्थिति है कि जिसमें हृदय और शरीर तो ठीक काम कर रहे हैं, लेकिन मस्तिष्क अपना काम ठीक नहीं कर रहा है।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे, मनुष्य की रचना हुई है; उसमें शरीर, हृदय और मस्तिष्क तीनों की स्वस्थता आवश्यक है। उसी प्रकार

से यदि आन्तरिक जीवन की स्वस्थता पर विचार करें तो यह कह सकते हैं कि क्रियायोग शरीर है, भक्तियोग हृदय है और ज्ञानयोग मस्तिष्क है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति के अन्तरंग जीवन में ज्ञान, भावना और क्रिया का सामञ्जस्य है, वही व्यक्ति सच्चे अर्थों में पूर्ण स्वस्थ कहा जा सकता है। यदि क्रिया की प्रधानता है और ज्ञान तथा भावना नहीं है तो भी व्यक्ति मृत है। यदि भावना की प्रधानता है और व्यक्ति विवेक शून्य है तो वस्तुतः ऐसी स्थिति में व्यक्ति जीवित रहते हुए भी मृततुल्य ही है। और मस्तिष्क ठीक रहते हुए भी यदि हृदय काम करना बन्द कर दे, तब तो व्यक्ति की मृत्यु अवश्यम्भावी है ही। वस्तुतः ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग की तुलना इन तीनों से की जा सकती है। तीनों रानियों में कौसल्याजी ज्ञानमयी हैं, सुमित्रा अम्बा भावनामयी हैं और कैकेयी अम्बा क्रियामयी हैं। इसी को श्लोक के रूप में प्रस्तुत किया गया है–

ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या सुमित्रोपासनात्मिका।
क्रियाशक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथो नृपः॥

आन्तरिक दृष्टि से यदि हम देखें तथा ज्ञान और उपासना का स्वरूप हृदयंगम करना चाहें तो ज्ञान की गरिमा, ज्ञान का विवेक और धैर्य, ज्ञान की गहराई कौसल्या अम्बा के चरित्र में पग-पग पर दिखाई देती है। जैसे ज्ञान में मस्तिष्क अत्यन्त सन्तुलित और समत्व में स्थित होता है, वैसे ही कौसल्याजी के चरित्र में यह समत्व पग-पग पर पाएँगे। बहिरंग दृष्टि से श्रीराम का जन्म कौसल्याजी से हुआ और श्रीभरत का कैकेयीजी से हुआ। इसलिए कौसल्या अम्बा में समग्र एकता की दृष्टि यदि न होती, समत्व की दृष्टि यदि न होती तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता कि राम मेरा पुत्र है और भरत पराया है। यही कमी कैकेयीजी के चरित्र में आगे चलकर अपने और पराये पुत्र के रूप में दिखाई देती है।

महाराज श्रीदशरथ के लिए एक बड़ा सार्थक वाक्य मानस में कहा गया कि जब वे श्रीराम और श्रीभरत को देखते हैं तो उनको ऐसा लगता है कि ये दोनों मेरी दो आँखें हैं। यदि किसी से पूछा जाए कि दोनों आँखों में से कौन-सी आँख तुम्हें प्रिय है और कौन-सी तुम्हारी है? तो वह व्यक्ति क्या कहेगा? व्यक्ति के लिए तो दोनों आँखें महत्त्वपूर्ण हैं और दोनों समान रूप से प्रिय हैं, तथा–

रामु भरतु दोउ सुत सम जानी। २/५४/६

के रूप में कौसल्याजी के चरित्र का समत्व भी दिखाई देता है। उनका यही समत्व उस समय भी परिलक्षित होता है, जिस समय वनयात्रा के समय श्रीराम कौसल्या अम्बा से विदा माँगने के लिए आते हैं और उस समय कौसल्याजी ने जो बात कही, उससे उनके ज्ञान, ईर्ष्यारहित हृदय और समत्वयुक्त हृदय का परिचय मिलता है। उन्होंने कहा कि राघवेन्द्र! यदि केवल महाराजश्री दशरथ ने तुम्हें वन जाने के लिए कहा होता तो मैं माता के अधिकार के नाते तुमको वन जाने से रोकती कि तुम वन मत जाओ–

जौं केवल पितु आयसु ताता।
तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना॥ २/५५/१-२

पर यदि पिताजी के साथ-साथ तुम्हारी माँ कैकेयी ने भी वन जाने के लिए कहा है तो मैं यही कहूँगी कि वन तुम्हारे लिए सैकड़ों अयोध्या की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, तुम अवश्य माता-पिता की आज्ञा का पालन करो और वन में जाओ। इतनी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जिनके अन्तःकरण का समत्व समाप्त नहीं होता है, वे कौसल्या अम्बा मानो सचमुच विवेक और ज्ञान की घनीभूत रूप प्रतीत होती हैं। यहाँ तक कि गीतावली रामायण में गोस्वामीजी ने उनके चरित्र की गरिमा प्रस्तुत करते हुए कहा कि जब श्रीहनुमान्‌जी से माताओं को लंका के रणांगण में लक्ष्मणजी के मूर्च्छित होने का समाचार मिला और सुना कि वे मृत्यु के निकट हैं, उस समय सुमित्रा अम्बा की भावुकता और कौसल्या अम्बा की जो ज्ञानगरिमा है, वह परिलक्षित होती है। सुमित्राजी व्याकुल हो जाती हैं कि यदि एक पुत्र ने लंका के युद्ध में वीरगति प्राप्त कर ली है तो उससे दुःखित होने के स्थान पर वे शत्रुघ्न की ओर देखती हैं कि तुम्हारे लिए यही अवसर है कि तुम भी भाई के पथ का अनुगमन करो। उनकी भावुकता और समर्पण यही है।

उपासना की जो समर्पण वृत्ति है, वह सुमित्रा अम्बा में दिखाई देती है और कौसल्याजी ने श्रीराम के लिए जो सन्देश भेजा, उसकी विलक्षणता यह है कि उसमें भावुकता तो है ही, पर उस भावुकता से अधिक उनके चरित्र की गम्भीरता प्रकट होती है। उन्होंने हनुमान्‌जी से केवल इतना

कहा कि हनुमान्! तुम उनसे जाकर इतना कह देना कि–

भेंट कहि कहिबो, कह्यो यों कठिन-मानस माय।
लाल! लोने लषन-सहित सुललित लागत नायँ॥ गीतावली-६/१४/४

उनका नाम तो लक्ष्मण के साथ ही अच्छा लगता है। बड़ा ही मार्मिक सन्देश है। श्रीसूरदासजी महाराज ने इस सन्दर्भ में जो पद कौसल्याजी की वाणी में लिखा है, उसमें बड़ी भावुकता है। उन्होंने कहा कि यदि लक्ष्मण ने प्राण का परित्याग कर दिया है तो राम को भी लौटकर आने की आवश्यकता नहीं है। गोस्वामीजी जब कौसल्याजी की वाणी में अपनी बात कहते हैं तो उसकी विलक्षणता यह है कि उनकी भावुकता विवेक की गरिमा का उल्लंघन कभी नहीं करती। मानो उन्होंने थोड़े में बहुत बड़ी बात कह दी। जब उन्होंने यह कहा कि तुम्हारा नाम लक्ष्मण के साथ अच्छा लगता है, तो सुनने में उतनी विचित्र बात नहीं लगती परन्तु इसमें माँ ने जो गम्भीर संकेत किया, वह बड़े महत्त्व का है। सूरदासजी की वाणी में कौसल्याजी ने यह कहा कि–

लछिमन सहित कुसल बैदेही आनि राजपुर कीजै।
ना तरु 'सूर' सुमित्रा सुत पर बारि अपनुपौ दीजै॥
सूररामचरितावली-१६५

यदि लौटें तो लक्ष्मण के साथ ही लौटें और नहीं तो राम भी स्वयं अपना बलिदान कर दें। बड़ी ही दिव्य भावना है। गोस्वामीजी ने लिखा कि उनसे कह देना कि उनका नाम तो लक्ष्मण के साथ ही अच्छा लगता है। क्या तात्पर्य है? यदि मैं यह कहूँ कि राम! तुम तो लक्ष्मण के साथ ही अच्छे लगते हो! तो समस्या केवल इस युग की है, जब हमारे सामने तुम आओगे, और तब हमारे मुँह से यह निकलेगा कि लक्ष्मण के बिना तुम अच्छे नहीं लग रहे हो, परन्तु जब मैं यह कहती हूँ कि लक्ष्मण के बिना तुम्हारा नाम अच्छा नहीं लगता तो इसका तात्पर्य यह है कि चाहे व्यक्ति का रूप सर्वदा न रहे, परन्तु नाम तो सर्वदा रहता है। ऐसी परिस्थिति में तुम्हारा नाम सर्वदा के लिए कलंकित हो जाएगा। मुझे ऐसा लगता है कि तुम्हारा नाम वन्दनीय नहीं रह जाएगा। इसलिए माँ ने एक वाक्य में ही निहित गहरी भावना की जो बात प्रस्तुत की उसकी विलक्षणता यह है कि गहरी भावना के साथ उसमें ज्ञान का पूरा सामञ्जस्य है। कौसल्या अम्बा में जो पग-पग पर समत्व, विवेक और धैर्य परिलक्षित होता है, वह यह स्पष्ट करता है

कि कौसल्या अम्बा के चरित्र के द्वारा हमें ज्ञान का स्वरूप और ज्ञान की प्रेरणा प्राप्त होती है और उन्हीं के द्वारा जो श्रीराम का प्राकट्य होता है, उसका भी तात्पर्य यही है कि ईश्वर का जो साक्षात्कार होगा, ब्रह्म का जो बोध होगा, वह किसके द्वारा होगा? रामचरितमानस में कहा गया है कि–

वेदान्तवेद्यं विभुम्। ५/श्लोक

भगवान् तो वेदान्त के द्वारा ही जाने जाते हैं। उपासना में महत्त्व किसका है? उपासना किसकी की जाती है? सन्त की या ईश्वर की? इसको यों कह लें कि सन्त के माध्यम से हम ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं, इसलिए उपासना में सन्त और ईश्वर दोनों का महत्त्व है। सुमित्रा अम्बा ने क्या किया? अपने दो पुत्रों में से एक को सन्त की सेवा में लगा दिया, श्रीभरत से बढ़कर मानस में कोई सन्त नहीं है, कोई महापुरुष नहीं है। एक पुत्र को दीक्षा दे दी, सन्त की सेवा के लिए और अपने दूसरे पुत्र लक्ष्मण को माँ ने साक्षात् ईश्वर की सेवा की दीक्षा दी है और उस पर भी अधिकार की प्रवृत्ति सुमित्रा अम्बा के चरित्र में कहीं रंचमात्र भी परिलक्षित नहीं होती है। लक्ष्मण राम के साथ वन जाना चाहते हैं। श्रीराम के रोकने पर भी वे रुकने के लिए तैयार नहीं होते, तब भगवान् राघवेन्द्र कह देते हैं कि जाओ माँ से विदा माँगकर आओ–

मागहु बिदा मातु सन जाई। २/७२/१

जब लक्ष्मणजी ने माँ के समक्ष सारी बातें रखीं और उसने विदा माँगी तो माँ ने उलाहना दे दिया और सचमुच ऐसी उलाहना सुमित्रा अम्बा जैसी माँ ही दे सकती थीं कि जो सर्वथा भक्तिभाव और साक्षात् उपासना से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने कहा कि तुम यहाँ कैसे चले आए? क्या तुम समझते हो कि तुम्हारी माँ मैं हूँ? जब राम ने माँ से आज्ञा माँगने को कहा था तो लक्ष्मण! तुम्हारी माँ तो वहीं थीं। तुम वहीं उनसे आज्ञा माँग लेते और वन चले जाते तो मुझे प्रसन्नता होती। तुम्हारा यहाँ चले आना तो अनावश्यक था–

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥ २/७३/२-३

इन शब्दों में जो अपने पुत्र को भगवान् के लिए समर्पित कर देती हैं और इतना ही नहीं बल्कि सुमित्रा अम्बा समर्पण के अभिमान को भी छोड़ देती हैं। समर्पण में भी एक प्रकार की वृत्ति होती है कि जब हम कोई वस्तु भेंट करते हैं तो यह वृत्ति होती है कि हमने यह वस्तु भेंट की, हमने इन्हें दिया। लेकिन सुमित्रा अम्बा तो लक्ष्मणजी को अपना पुत्र ही नहीं मानतीं तो इसमें भेंट करने की बात ही क्या है? इसीलिए जब श्रीराम वन जाने लगे तो लक्ष्मणजी को वन में साथ जाने का आदेश दिया, लेकिन स्वयं श्रीराम से मिलने के लिए नहीं गई, इससे बढ़कर कुछ आश्चर्य नहीं है।

श्रीराम कितने वर्षों के लिए वन जा रहे हैं और अन्तिम क्षणों में सुमित्रा अम्बा उनसे मिलने भी नहीं जाती हैं। ऐसा क्यों? इसलिए कि लक्ष्मण को साथ लेकर जाने का अर्थ है कि हमारे राम को ऐसा लगेगा कि माँ अपना बेटा देने आई हैं। जब पुत्र मेरा नहीं है तो मैं राम को संकोच में डालूँ कि मैं दे रही हूँ और तुम लेने वाले हो, यह उपयुक्त नहीं। इस प्रकार सुमित्रा अम्बा का चरित्र एक सांकेतिक सूत्र के रूप में मैंने प्रस्तुत किया। यदि इनके चरित्र को हम देखें तो उपासना के सच्चे तत्त्व को हम हृदयंगम कर सकते हैं। कौसल्या एवं सुमित्रा अम्बा के चरित्र ज्ञान और उपासना के चरित्र हैं।

कैकेयी अम्बा का चरित्र बड़ा जटिल है, उतना सरल नहीं है। कौसल्याजी और सुमित्राजी के चरित्र की व्याख्या करना अपेक्षाकृत सरल है। कैकेयी अम्बा साक्षात् क्रियामयी हैं। कौसल्या और सुमित्रा तो समग्र रूप से ईश्वर में समर्पित हो गई हैं। ज्ञान में भी समग्रता है और उपासना में भी समग्रता है और यही कौसल्याजी और सुमित्राजी का स्वरूप है, जो सदा वन्दनीय है, पर कैकेयीजी क्रियामयी हैं। कैकेयीजी निन्दनीया हैं कि वन्दनीया हैं? उपासना और ज्ञान तो वन्दनीय है ही, पर क्रिया वन्दनीया है कि निन्दनीया है? इसी का वर्णन विस्तार से कैकेयीजी के चरित्र में किया गया है। क्रिया तो वन्दनीया एवं निन्दनीया दोनों ही बन जाती हैं। क्रिया के साथ यह समस्या जुड़ी हुई है। अगर क्रिया कैकयनन्दिनी का आचरण करेगी तो निन्दनीय बन जाएगी और क्रिया यदि भरत की माता का आचरण प्रस्तुत करेगी तो वन्दनीय बन जाएगी।

कैकयनन्दिनी और **भरतमातु** के रूप में क्रिया की भूमिका बड़ी

जटिल है। भले ही क्रिया में गुण और दोष दोनों हों, पर सृष्टि का समग्र संचालन बिना क्रिया के सम्भव ही नहीं है। रामायण में भगवान् राम की लीला का जो विस्तार है, उसका मुख्य हेतु तो कैकेयी अम्बा ही बनती हैं, परन्तु इतना होते हुए भी क्रिया में वन्दन एवं निन्दन की समस्या रहती ही है। आप अपने जीवन में देख लीजिए! कैकेयीजी का कभी निन्दन और कभी वन्दन, आप अपने जीवन में भी देख सकते हैं। हमारे जीवन में भी कुछ क्रियाएँ ऐसी होती हैं कि जिनकी लोग आलोचना करते हैं, निन्दा करते हैं और कभी ऐसे अवसर भी आते हैं कि जब लोग हमारी क्रिया को देखकर हमारी वन्दना करते हैं। क्रिया की इस निन्दनीयता और वन्दनीयता को समझने के लिए हम अपने ही जीवन को देखें और हम उन दोषों से सावधान रहें कि जिन दोषों के कारण कैकेयीजी इतनी विशिष्टा होते हुए भी निन्दनीया बन जाती हैं, परन्तु इतनी निन्दनीया हो जाने के बाद भी कैकेयीजी पुनः अन्त में वन्दनीया कैसे बन जाती हैं? इसका रामायण में एक बड़ा सांकेतिक प्रसंग है। कैकेयीजी के चरित्र में एक बड़ी विचित्र बात आप पाएँगे। कौसल्या और सुमित्रा तो आदि में भी वन्दनीया हैं, मध्य में भी वन्दनीया हैं और अन्त में भी वन्दनीया हैं, पर कैकेयी प्रारम्भ में वन्दनीया हैं, मध्य में निन्दनीया हैं, परन्तु अन्त में फिर वे वन्दनीया हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि क्रिया में जो दोष आ भी गया, वह केवल बीच में दिखाई पड़ा, आदि और अन्त में नहीं है। कैकेयीजी का चरित्र भी अन्त में जिस प्रकार समाप्त हुआ, वह निन्दनीया के रूप में नहीं है। आइए! जरा कैकेयीजी के चरित्र की जटिलता की कठिनाई को और उनके चरित्र में जो विरोधाभास है, उस पर ध्यान देने की चेष्टा करें। कथा इस प्रकार आती है कि दशरथजी का विवाह कौसल्याजी और सुमित्राजी से हुआ तो उसमें विवाह की जो धर्मपद्धति है, उसका ठीक-ठीक अनुगमन किया गया। इसे यों कह सकते हैं कि ज्ञान और उपासना वेद से जुड़े हुए हैं और इन दोनों का पवित्र परिचय वेद मन्त्रों में मिलता है, लेकिन कथा यह आती है कि महाराज श्रीदशरथ ने जब कैकेयी की सुन्दरता का वर्णन सुना तो उनके अन्तःकरण में कैकेयी से विवाह करने का संकल्प जाग्रत् हुआ। तब उन्होंने कैकयनरेश के पास यह प्रस्ताव भेजा कि मैं आपकी कन्या से विवाह करना चाहता हूँ। ऐसा लगता है कि विवाह के

बाद कैकेयीजी का अन्तःकरण कैकयनरेश के कुसंस्कारों से मुक्त हो गया है, परन्तु बाद में वह संस्कार समय पाकर अंकुरित हुआ। इन संस्कारों से मुक्त होना कोई साधारण कार्य थोड़े ही है।

दूसरा दृष्टान्त सतीजी का है, जिनकी समस्या भी कुछ इसीप्रकार की है। सतीजी ने अपने पति शंकरजी का अनुगमन किया और ऐसा लगता है कि वे सफल भी हुईं, जैसे, वे अगस्त्य ऋषि के आश्रम में शंकरजी के साथ कथा सुनने के लिए गईं। इससे सचमुच ऐसा लगा कि सतीजी के जीवन में शंकरजी के संस्कारों का उदय हो चुका है, लेकिन वहाँ पर भी वही दुविधा है। शंकरजी मूर्तिमान् विश्वास हैं और दक्ष बुद्धिमान् हैं। दक्ष माने चतुर। सतीजी की समस्या क्या थी? वे चतुर की बेटी और विश्वास की पत्नी थीं। चतुराई और विश्वास में एक टकराहट है। चतुर या बुद्धिमान् व्यक्ति यह समझता है कि विश्वास उतना श्रेष्ठ नहीं है और विश्वासी व्यक्ति बुद्धि को महत्त्व नहीं देना चाहता। इसीलिए पुराणों में भी यह कथा आती है कि भगवान् शंकर में और दक्ष में टकराहट है। वह टकराहट भी शंकरजी की ओर से नहीं है। शंकरजी तो अपने स्वरूप में डूबे हुए हैं, किन्तु दक्ष को ऐसा प्रतीत होता है कि शिव मेरी अवहेलना करते हैं। सब लोग मेरी वन्दना करते हैं, पर शिव मेरी वन्दना नहीं करते।

सतीजी की स्थिति यह है कि वे जीवन में विश्वास को स्वीकार करना चाहती हैं, लेकिन ठीक अवसर पर उनके भीतर चतुराई का जो अहंकार है, वह जाग्रत् हो जाता है। सतीजी कथा सुनने के लिए जब चलीं तो शंकरजी का संस्कार लेकर गईं, परन्तु जब सुनने के लिए बैठ गईं, तब पिता का संस्कार जाग्रत हो गया। बिल्कुल उल्टी बात हुई। यदि सुनने के लिए आने के समय तक बुद्धि में होतीं और सुनते समय विश्वास में बैठ जातीं, तब तो यह सुनने की सही पद्धति है, पर सुनने आईं विश्वास लेकर और बैठकर सुनने लगीं बुद्धि लेकर। परिणाम यह हुआ कि दक्ष के संस्कार जाग्रत् हो गए और ये संस्कार इतने प्रबल थे कि सतीजी को अपने वश में कर लिया। जब भी सतीजी की निन्दा करनी हो तो मानस में उनको दक्षकुमारीजी कहकर ही याद किया जाता है।

सतीजी जब कथा सुनकर लौटती हैं तो उनके हृदय में संशय और भय उत्पन्न होता है, जिसको मिटाने की शंकरजी बड़ी चेष्टा करते हैं,

परन्तु पिता के संस्कार इतने प्रबल हैं कि वे अन्त में शंकरजी से यही कहती हैं कि महाराज! आपकी बातें होंगी बहुत बढ़िया, लेकिन मेरी बुद्धि जिसे स्वीकार ही नहीं करती, उसे मैं कैसे मान लूँ? आपकी बात मेरी बुद्धि स्वीकार नहीं कर रही है। शंकरजी समझ जाते हैं कि पिता का संस्कार बड़ा प्रबल है। सबसे बड़ा व्यंग्य यह आता है कि सती की स्थिति इतनी जटिल हो गई कि इस बीच में उन्होंने भगवान् की परीक्षा ली, शंकरजी से असत्य बोल गईं और अन्त में शंकरजी ने मन ही मन उनका त्याग कर दिया और इससे वे बड़ी दुःखी हो गईं। किसी ने पूछा कि शंकर की पत्नी और दुःख में पड़ी हुई हैं? तब गोस्वामीजी ने कहा कि शंकरजी की पत्नी को दुःख तो कभी हो ही नहीं सकता। फिर दुःखी कौन है?—

एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। १/५८/१

अर्थात् दक्षराज की बेटी दुःखित हो रही हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ पर बुद्धिमत्ता का अहंकार है, वहीं पर दुःख की सम्भावना है। जहाँ पर भगवद्विश्वास है, वहाँ पर दुःख का प्रश्न ही नहीं होना चाहिए। सतीजी की स्थिति यह है लेकिन बाद में सतीजी को ऐसा प्रतीत हुआ कि मैंने बड़ी भूल की है। मैंने शंकरजी की अवहेलना की है और मैंने भगवान् की परीक्षा ली है।

इसके बाद भी ऐसा वर्णन आता है कि जब उन्होंने देखा कि आकाश में विमान जा रहे हैं तो भगवान् शंकर से पूछा कि इतनी बड़ी संख्या में ये विमान कहाँ जा रहे हैं? शंकरजी बड़े गम्भीर हैं। दक्ष और शंकरजी में ब्रह्मा की सभा में टकराहट हो गई। दक्ष भगवान् शंकर पर रुष्ट हो गए। परन्तु शंकरजी में और दक्ष में क्या अन्तर है? ब्रह्मा की सभा से दक्ष के अन्तःकरण में बदले की ऐसी वृत्ति उदित हुई कि दक्ष ने निश्चय किया कि जबतक शंकरजी से बदला नहीं ले लेंगे, तब तक विश्राम नहीं, परन्तु भगवान् शंकर की गम्भीरता क्या है?

जब भगवान् शंकर ब्रह्मा की सभा से लौटकर आए तो सतीजी को यह बताया तक नहीं कि तुम्हारे पिताजी ने मेरा अपमान किया है या मेरा उनसे झगड़ा हुआ है। कितनी विचित्र बात है? साधारणतया तो ऐसा देखा जाता है कि व्यक्ति अपनी पत्नी पर ही बिगड़ खड़ा होता है कि तुम्हारे पिता ने भरी सभा में मेरे विरुद्ध ऐसे शब्द कहे, मेरा अपमान किया, मेरा बड़ा अनादर हुआ! भगवान् शंकर तो बस मुसकराते हुए लौट

आए और सती से इसकी कोई चर्चा नहीं की, परन्तु आज चर्चा करनी पड़ी। जब सतीजी ने पूछा कि ये सब कहाँ जा रहे हैं तो भगवान् शंकर बोले कि तुम्हारे पिता के यहाँ यज्ञ हो रहा है। "तो क्या आपको निमन्त्रण नहीं मिला?" बहुत सँभालकर शंकरजी ने कहा कि तुम्हारे पिताजी मुझसे थोड़े दुःखी हो गए हैं–

ब्रह्मसभाँ हम सन दुखु माना। १/६१//३

फिर भी शंकरजी बहुत सँभालकर केवल इतना कह रहे हैं कि ब्रह्मसभा में वे हमसे कुछ दुःख मान गए हैं और उस दुःख के कारण ही वे बदला लेने के लिए प्रस्तुत हैं। सती ने कहा कि फिर आप मत जाइए! लेकिन मुझे तो जाना ही चाहिए। मैं तो बेटी हूँ। शंकरजी ने कहा कि पिता के घर जाने में कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन–

तदपि बिरोध मान जहँ कोई।
तहाँ गएँ कल्यानु न होई॥ १/६१/६

जहाँ विरोधी वातावरण हो, वहाँ जाना ठीक नहीं है। लेकिन जब सतीजी नहीं मानीं तो किसी ने तुलसीदासजी से पूछा कि शंकरजी की पत्नी और शंकरजी के आग्रह को नहीं मान रही हैं? गोस्वामीजी ने फिर वही व्यंग्य किया। शंकरजी समझा-समझाकर थक गए, लेकिन सतीजी नहीं मानीं और कहा कि मैं तो पिता के घर जरूर जाऊँगी। तब गोस्वामीजी ने कहा–

कहि देखा हर जतन बहु रहइ न दच्छकुमारि। १/६२

अरे भई! इस समय पिता का संस्कार इतना प्रबल है कि दक्षकुमारी ने शिव की अवहेलना कर दी, लेकिन आगे चलकर लिखा हुआ है कि सती का पुनर्जन्म हुआ और सती ने दक्ष के यज्ञ में अपने शरीर का परित्याग किया। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका तात्पर्य यह है कि जैसे किसी बरतन में कोई गन्दगी लग गई हो और उस बरतन को धोने और माँजने से जो बाहर से लगी हुई गन्दगी होगी, वही मिटेगी, लेकिन जिस धातु का वह बरतन बना हुआ है, उस धातु में ही यदि दोष हो तो कितना भी उसको धोइए, माँजिए, धातु का यह दोष मिटने वाला नहीं है। सतीजी ने समझ लिया कि शंकरजी ने मुझे धोकर, माँजकर साफ करने की चेष्टा की, लेकिन यह दक्ष की बेटी होने का जो धातुत्व है, जब तक मैं बेटी बनी रहूँगी, यह तो मिटने वाला नहीं है। यह तो मेरे अन्तःकरण में इतनी गहराई से समा गया है कि भगवान् शंकर के कहने के बाद भी मैं उसे

चाहकर भी नहीं मान पाती हूँ। यही दक्ष का तीव्र संस्कार है।

सतीजी के पुनर्जन्म का अभिप्राय यह है कि दक्ष का संस्कार जब पूरी तरह से निर्मूल हो जाएगा, तभी मैं सच्चे अर्थों में शिव की प्रिया बन पाऊँगी। इसका सीधा-सा आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि वे जानती हैं कि बुद्धिमत्ता का अहंकार यदि व्यक्ति में एक बार गहराई से पैठ जाए तो बाद में वह व्यक्ति सुनने-समझने की चेष्टा करे तो भी समय पर बुद्धिमत्ता का अहंकार जगे बिना नहीं रहेगा और जब तक बुद्धिमत्ता का अहंकार जगता रहेगा, तब तक विश्वास का सच्चा आनन्द नहीं मिलेगा। इसलिए जब सतीजी शरीर का परित्याग करने लगीं तो निर्णय किया कि मेरा नया जन्म हो और उसमें भी मैं भगवान् शिव को पाऊँ। भगवान् ने मानो अन्तर्यामी के रूप में सतीजी से पूछा कि आपका जन्म कहाँ पर हो? इस जन्म में तो आप दक्ष की बेटी थीं। तब सतीजी ने भगवान् से यही कहा कि महाराज! आप मुझे पत्थर की बेटी बना दीजिएगा, पर चतुर की बेटी मत बनाइएगा। इसीलिए कहा जाता है कि वे हिमालय की बेटी बनीं। हिमालय वैसे जड़ माना जाता है, पत्थर माना जाता है, लेकिन उसमें अडिग आस्था होती है। पर्वत हिलाने पर भी नहीं हिलता, डिगाने पर भी नहीं डिगता।

इसका अभिप्राय है कि विश्वास के साथ हमारा सही सम्बन्ध तब हो सकता है, जब हमारे अन्तःकरण में अडिग आस्था का उदय हो, कभी विचलित न होने वाली वृत्ति का उदय हो। तब हिमालय की पुत्री के रूप में पुनः भगवान् शिव को प्राप्त करके वे ही पार्वतीजी के रूप में श्रद्धा का रूप धारण कर लेती हैं और तब उनके जीवन में समग्रता आ जाती है, तो वस्तुतः अन्तःकरण के जो गम्भीरतम संस्कार होते हैं, वे किस समय जीवन में सामने आ जाएँगे, इसे समझ पाना सरल नहीं है। यही कैकेयीजी के चरित्र में भी परिलक्षित होता है।

सतीजी दक्ष के संस्कार से मुक्त नहीं हो पातीं और कैकेयीजी कैकयनरेश के संस्कार से मुक्त नहीं हो पातीं, पर सन्त भरत ने कैकेयजी को उन संस्कारों से मुक्त कर दिया, यह उनका एक बड़ा चमत्कार है। हम यह कह सकते हैं कि जैसे सतीजी का पुनर्जन्म होता है। वैसे ही श्रीभरत की चेष्टा से कैकेयीजी का पुनर्जन्म होता है और नये जन्म में जो बदली हुई कैकेयी हैं, वे अपने पिता के संस्कारों से मुक्त हैं। कैकयनरेश

के संस्कार क्या हैं? आध्यात्मिक अर्थों में इसका अभिप्राय है। कैकयनरेश ने अपनी पुत्री का विवाह करने की अनुमति तब दी, जब उसको बदले में कुछ मिल गया। ज्ञान और उपासना में तो बदले में कुछ पाने की वृत्ति नहीं होती है। पिता कन्या को देने में कुछ बदले में पाना नहीं चाहता। वह तो कन्या को वस्तुतः देता ही देता है, बल्कि पिता तो कन्या के अर्पण के साथ-साथ और भी कुछ देने की चेष्टा करता है। यही पिता का मनोभाव है। कौसल्याजी और सुमित्रजी के विवाहों में कोई ऐसी बात नहीं आई। यहाँ समर्पण का विवाह है, लेकिन कैकेयीजी के विवाह के प्रसंग में पिता बदले में कुछ चाहता है।

ज्ञान और उपासना में तो निष्कामता है, लेकिन जहाँ पर क्रिया है, वहाँ निष्कामता नहीं है। क्रिया करने वाला यही चिन्ता करता है कि क्रिया करने पर हमको क्या मिलेगा। क्रिया में फल पाने की वृत्ति है। कैकयनरेश वस्तुतः सात्त्विक अभिमान हैं। कैकेयी क्रिया के रूप में उनकी पुत्री हैं। अभिमान के अनगिनत रूपों का रामचरितमानस में, श्रीमद्‌भागवत में, पुराणों में वर्णन किया गया है। कैकयनरेश अहंकार के सात्त्विक रूप हैं। मानस में राजसी और तामसी अहंकार के रूपों का भी वर्णन किया गया है। राजस और तामस अहंकार तो जीवन के लिए बड़े घातक हैं ही, परन्तु सात्त्विक अहंकार की समस्या भी साधारण समस्या नहीं है, बड़ी जटिल है। वह समस्या यह है कि जब भी हम सत्कर्म करेंगे, धर्म-पुण्यादि करेंगे तो उससे सात्त्विकता का भाव तो उदय होगा ही, परन्तु उसके साथ यह भाव भी जुड़ा रहेगा कि यह सत्कर्म, यह दान, यह पुण्य, यह पूजा-पाठ आदि मैं कर रहा हूँ।

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ सत्कर्म है, वहाँ सात्त्विक अभिमान की सम्भावना रहेगी। समस्या यह है कि यदि सात्त्विक अभिमान न हो तो सत्कर्म की प्रेरणा न मिले, परन्तु जब तक सत्कर्म के साथ-साथ सात्त्विक अहंकार जुड़ा रहेगा, तब तक सत्कर्म तो होगा, लेकिन साथ में अभिमान का जो विकृत रूप है, वह भी जीवन में आए बिना नहीं रहेगा। यही समस्या यहाँ दिखाई देती है। सात्त्विक अभिमान स्वरूप कैकयनरेश से परमपवित्र क्रियामयी कैकेयी का जन्म हुआ, जो बड़ी सुन्दरी हैं, पर सुन्दरता तो बहिरंग वस्तु है।

ज्ञान और उपासना तो कोई साकार वस्तु नहीं हैं कि उनका सौन्दर्य

दिखाई दे, पर जैसे शरीर का सौन्दर्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है, पर हृदय और मस्तिष्क का सौन्दर्य दिखाई नहीं देता। इसी कारण से कौसल्याजी और सुमित्राजी के सौन्दर्य की उतनी चर्चा नहीं है, जितनी कैकेयीजी के सौन्दर्य की है, लेकिन कैकयनरेश की समस्या यही है। प्रत्येक प्रसंग में रामायण में जिस मूल समस्या का वर्णन किया गया है, वह एक वाक्य में किया गया–

संसृत मूल सूलप्रद नाना।
सकल सोक दायक अभिमाना॥ ७/७३/६

इसलिए भक्ति के मार्ग में सबसे बड़ा विघ्न यही है। कैकेयी के जीवन में भी यही समस्या आती है। तब कैकेयीजी ने भगवान् राम को वन भेज दिया तो इसका तात्त्विक तात्पर्य यह है कि जीवन में भगवान् दूर चले गए और भगवान् भी तब दूर जाते हैं, जब अभिमान आता है। सात्त्विक अभिमान के बिना सत्कर्म नहीं होता, श्रेष्ठ क्रिया नहीं होती, पर श्रेष्ठ क्रिया के साथ-साथ अभिमान और ईश्वर में परस्पर टकराहट कभी-न-कभी किसी-न-किसी रूप में बिना हुए नहीं रहती। श्रीमद्‌भागवत में इसी का एक बड़ा गम्भीर संकेत आता है।

भगवान् कृष्ण जिनके गर्भ से जन्म लेते हैं वे देवकी और अवतार लेकर जिसका वध करते हैं, वह कंस दोनों भाई-बहन हैं। इसका अर्थ क्या हुआ? और केवल भाई-बहन ही नहीं हैं, प्रारम्भ में तो कंस देवकी को बड़ा सम्मान देता है, पर बाद में कंस देवकी को मारने पर तुल जाता है। कंस अहंकार है और देवकी बुद्धि है। और बुद्धि और अहंकार का नाता तो है ही, चाहे जो नाता मान लीजिए। अन्तःकरण में भी यही बात है–मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। जब कहेंगे तो चारों का नाम लेंगे और यों भी देखें तो जीवन में जहाँ बुद्धि है, वहाँ अहंकार जरूर है।

बुद्धि और अहंकार का बड़ा गहरा नाता है, उसे भाई-बहन का नाता कह लीजिए या और कोई नाता मान लीजिए। अहंकार और बुद्धि एक दूसरे से बड़े घनिष्ट रूप में सम्बन्धित हैं। इतना ही नहीं, यह मानते हैं कि अहंकारी को सबसे अधिक प्रसन्नता यह सुनकर होती है कि ये बड़े बुद्धिमान् हैं। यह एक बड़ी विचित्र बात है। धन और शरीर के मामले में अपनी हीनता को तो व्यक्ति मान भी लेता है कि हमारे पास उनकी अपेक्षा कम धन है या इनकी अपेक्षा कम शारीरिक शक्ति है, परन्तु यदि

कह दिया जाए कि बुद्धि कम है तो उसको बहुत बुरा लगता है और वह इसको नहीं मानता। शरीर और धन में भले ही कम हों, परन्तु बुद्धि में तो हम कम नहीं हैं।

अहंकार का सबसे बड़ा साधन यदि कोई है तो वह धन और शरीर की अपेक्षा भी बुद्धिमत्ता है, बुद्धि का बल है। इसलिए देवकी और कंस परस्पर भाई-बहन हैं और देवकी के प्रति कंस के मन में बड़ा स्नेह दिखाई दे रहा है, लेकिन इस बुद्धि और अहंकार का स्नेह कब तक रहेगा? कथा आती है कि देवकी का विवाह हुआ वसुदेव से। वसुदेव विचार हैं, देवकी बुद्धि हैं। बुद्धि और विचार का जब विवाह हुआ और जब विदाई होने लगी तो कंस स्वयं सारथि बना और रथ की बागडोर पकड़ ली, तब यह देखकर कुछ क्षणों के लिए देवकी और वसुदेव गद्गद हो गए कि राजा होकर भी स्वयं कंस हमारा रथ हाँक रहा है, इससे बढ़कर हमारा सम्मान और क्या होगा? परन्तु यह भ्रम अगले ही क्षण में दूर हो गया।

अचानक आकाशवाणी हुई कि जिसका रथ तू खींच रहा है, अरे मूर्ख! उसी के आठवें गर्भ से तेरी मृत्यु हो जाएगी। बड़ी विचित्र बात लगती है, आकाशवाणी की कोई आवश्यकता थी क्या? आठवें पुत्र के रूप में भगवान् आते और कंस को मार देते। इस समय सूचना देने की क्या आवश्यकता? इसमें दो बातें हैं। एक तो देवकी और वसुदेव के भ्रम को दूर करना था और दूसरे भगवान् को बड़ी दया आई। भगवान् ने सोचा कि जिनका सारथि भगवान् को होना चाहिए था, उनका सारथि अहंकार हो गया। अगर बुद्धि और विचार अहंकार से जुड़ जाएँगे तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य कुछ नहीं होगा? सारथि कौन होना चाहिए?—

ईस भजनु सारथी सुजाना। ६/७६/७

आकाशवाणी का अभिप्राय यह है कि अहंकार बागडोर छोड़ दे। आकाशवाणी सुनकर कंस का रंग-रूप परिवर्तित हो गया। कंस तुरन्त रथ से कूद पड़ा और देवकी के बाल पकड़कर खींच लिया और सिर काटने के लिए तैयार हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि अहंकार बुद्धि का तब तक समर्थन करता है, जब तक उसको यह पता न चले कि बुद्धि और विचार से भगवान् जन्म लेकर मुझी को मार डालेंगे। अगर बुद्धि और विचार का मिलन होगा तो भगवान् आएँगे और जब भगवान् आएँगे तो अहंकार को जरूर मारेंगे और जब अहंकार को यह पता चल जाएगा कि बुद्धि

के कारण हमारी ही सत्ता मिटने वाली है तो वह सोचता है कि इसी को मिटा देना ठीक है, ऐसा सोचकर स्वयं प्रहार करने पर तुल जाता है। अतः वसुदेव और देवकी दोनों समझ गए और कंस का वास्तविक स्वरूप सामने आ गया। उस कथा का भी अन्तिम तात्त्विक रूप यही है कि भगवान् देवकी के संकल्प की रक्षा करते हैं और कंस का संहार करते हैं।

अभिप्राय यह है कि जब भगवान् की प्राप्ति होती है, तब वह भगवान् या ईश्वर अहंकार को मिटाए बिना नहीं रहेगा। अहंकार तो हमें ईश्वर से दूर भगा देता है, पर अन्त में ईश्वर के द्वारा अहंकार का संहार होता है। सात्त्विक अहंकार के साथ तो यह समस्या जुड़ी हुई है। कंस तो तमोमय अहंकार का प्रतीक है। मानस में बालि का चरित्र रजोमय अहंकार का स्वरूप बताता है, जहाँ पर बालि सत्कर्म करता हुआ भी भगवान् के भक्त सुग्रीव को चुनौती देने की चेष्टा करता है। जब बालि भगवान् राम से पूछता है कि आपने मुझे क्यों मारा? तो भगवान् ने कहा कि अहंकार के कारण मारा। अहंकार में क्या दोष हैं? तो बताया कि—

मम भुज बल आश्रित तेहि जानी।
मारा चहसि अधम अभिमानी॥ ४/८/१०

अभिप्राय यह है कि यदि सीधे नहीं तो घुमा-फिराके अहंकार ईश्वर का प्रतिद्वन्द्वी बन जाता है तो भगवान् बालि पर कृपा करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। अहंकार की यह जटिल समस्या रामायण और भागवत में अनेक रूपों में आती है।

कैकयराज सात्त्विक अहंकार हैं, जिनसे क्रिया के रूप में पवित्र कैकेयीजी का जन्म हुआ। वे दशरथजी से विवाह करने के लिए तो प्रस्तुत हैं, लेकिन बदला चाहते हैं। कैकयनरेश ने कहा कि आप यह वचन दीजिए कि मेरी कन्या से जो पुत्र होगा, उसी को अयोध्या का राज्य मिलेगा। इसका अर्थ क्या हुआ? सूर्यवंश की परम्परा यह है कि ज्येष्ठ पुत्र राजा होता है, ज्येष्ठ रानी का पुत्र राजा होता है, लेकिन इसकी चिन्ता इनको नहीं है। सात्त्विक अभिमान को चिन्ता है कि मेरा जो दौहित्र है, वह सिंहासन पर बैठे, सूर्यवंश की परम्परा रहे, चाहे जाए, हमको तो यह सम्मान मिलना ही चाहिए, तभी तो मैं अपनी कन्या दूँगा। इसे यों कह लीजिए कि जब तक क्रिया और अभिमान जुड़े हुए हैं, अभिमान का संस्कार जब तक क्रिया में जुड़ा हुआ है, तब तक यही समस्या होगी।

समय पाकर ईश्वर के स्थान पर भरत को सिंहासन पर बैठाने की वृत्ति की कामना जुड़ गई। यद्यपि श्रीभरत राम के समान ही हैं, लेकिन श्रीभरत की महिमा को न समझ करके वे कहते हैं कि मेरी पुत्री से जो पुत्र हो, उसको ही राज्य मिले। इसका अभिप्राय क्या है?

वेदों में सकाम कर्मों का विधान अधिक दिखाई देता है, जिसका अर्थ यह है कि जब वेदों का पाठ करते हैं या कोई पुण्य कर्म करते हैं तो पहले यह पता लगा लेते हैं कि इसका फल क्या मिलने वाला है? दान करेंगे तो क्या मिलेगा? पुण्य करेंगे तो क्या मिलेगा? यही दशरथ और कैकेयीजी के विवाह की समस्या है। महाराज श्रीदशरथ ने सोच लिया कि महारानी कौसल्या को तो कोई पुत्र नहीं हुआ, फिर यह वचन देने में क्या हानि है? वेदों में बहुत वचन दिए गए हैं, शास्त्रों में फल बहुत बताया गया है कि ऐसा करिए तो ऐसा होगा। गोस्वामीजी ने तो इस पर व्यंग्य किया है। किसी ने उनसे पूछा कि शास्त्रों में तो बहुत फल लिखे हैं कि माघ में नहाइए तो ऐसा फल मिलेगा! फाल्गुन में दान दीजिए तो ऐसा फल होगा! यह सब क्या है? तब गोस्वामीजी ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा कि–

पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि-भरि बेद परोसो॥

–विनयपत्रिका-१७३/२

वेदों ने थाल में तो बहुत बढ़िया परोस दिया है, परन्तु कर्मों का फल मिलने पर ही पता चलेगा। अगर वेद-शास्त्रों को पढ़ने से तृप्ति मिल जाती हो तो बात और है पर जीवन में सचमुच तृप्ति मिले, यह समस्या है। यहाँ दशरथ ने वचन दे दिया कि ठीक है, कैकेयी से जो पुत्र होगा, उसको राज्य मिलेगा। उन्होंने सोचा कि ऐसा वचन दे देने में कोई आपत्ति नहीं है। कैकयनरेश ने अपनी पुत्री का विवाह कर दिया, परन्तु उस विवाह में, उस समर्पण में लेन-देन और आदान-प्रदान की वृत्ति है, पर यों कह लीजिए कि इतना होने पर भी अनर्थ न होता जो अनर्थ कन्यादान के साथ-साथ मन्थरादान से हो गया। सात्त्विक अभिमान से क्रिया का जन्म हुआ, यह तो था ही, लेकिन जब कैकयनरेश कैकेयी को विदा करने लगे तो उनको फिर यह चिन्ता हुई कि अयोध्या में मेरी बेटी को कहीं कोई ठग न ले, इसलिए उन्होंने सोचा कि बेटी के साथ किसी ऐसी बुद्धिमती को भेज देना चाहिए जो हमारी पुत्री की सदा रक्षा करेगी और उनकी

समझ में मन्थरा से बढ़कर कोई बुद्धिमती नहीं थी, इसलिए मन्थरा को साथ में भेज दिया।

यदि मन्थरा न होती तो आगे चलकर जो अनर्थ हुआ, वह न होता, क्योंकि कैकयनरेश दूर थे, वे स्वयं यह देखने के लिए थोड़े ही आते कि क्या हो रहा है? लेकिन मन्थरा को साथ में लगा दिया। मन्थरा कौन है? लोभ की जो घनीभूत वृत्ति है, वही वस्तुतः मन्थरा है। ये तीन नारीपात्र हैं, ताड़का क्रोध की वृत्ति है, मन्थरा लोभ की वृत्ति है और शूपर्णखा काम की वृत्ति है।

अभिप्राय यह है कि बुद्धिमान् व्यक्ति सोचता है कि लोभ की वृत्ति को क्रिया के साथ लगा दो। स्वार्थपरता और लोभ की वृत्ति जब क्रिया के साथ जुड़ जाए तो संस्कार में एक बाहर से (स्वार्थ) और एक अन्दर से (लोभ) आरोपित, दोनों ही जुड़े हुए हैं और इस तरह से कैकेयीजी विवाहित होकर जाती हैं, परन्तु जब वे नये वातावरण में पहुँचीं तो वहाँ की परम्पराओं का प्रभाव पड़ा और स्वयं कैकेयीजी में भी जो महत्तम गुण थे, वे सबके सब प्रकट हुए, लेकिन एक ऐसा अवसर आता है कि जब कैकेयीजी के व्यक्तित्व के जो दोनों (स्वार्थ एवं लोभ) छिपे हुए पक्ष थे, वे भी प्रकट हुए। उनसे क्या विकृति हुई? जिससे वे निन्दनीया बनीं और फिर कैसे वन्दनीया बनीं, यह बात अगले प्रवचनों में आपके सामने रखी जाएगी।

□□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

तृतीय प्रवचन

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८
कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुख दीन्ह॥ २/६१

कैकयनन्दिनि से गोस्वामीजी का तात्पर्य क्या है? और फिर **भरत की जननी** के रूप में कैकेयीजी का क्या स्वरूप है? आइए! इन दोनों ही पक्षों पर विचार करें। तीनों रानियाँ साक्षात् ज्ञान, उपासना और क्रिया की प्रतीक हैं। कौसल्याजी ज्ञानमयी हैं, सुमित्राजी उपासनामयी हैं और कैकेयीजी क्रियामयी हैं। सुमित्राजी और कौसल्याजी तो केवल प्रशंसा की ही पात्र हैं, क्योंकि महान् से महान् विचार और उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भावनाएँ उनके अन्तःकरण में विद्यमान हैं।

अतः ज्ञान और उपासना में वन्दनीयता ही वन्दनीयता है, लेकिन कैकेयीजी तो क्रियामयी हैं और क्रिया में एक समस्या जुड़ी हुई है। संसार में ऐसी कोई क्रिया ही नहीं जो सर्वथा अच्छी हो। बुरी क्रिया तो बुरी है ही, परन्तु जिस क्रिया को हम अच्छी क्रिया कहते हैं, सत्क्रिया कहते हैं, उसमें भी कोई कमी न हो, दोष न हो, ऐसा नहीं होता है। जब क्रिया के इन दोनों पक्षों को देखते हैं तो फिर यह प्रश्न आता है कि क्या जीवन में क्रिया का परित्याग कर दिया जाए? साधारणतया कुछ व्यक्तियों को ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीभरतजी ने कैकेयीजी का परित्याग कर दिया, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने क्रिया के दोषों को देखकर क्रिया का ही परित्याग कर दिया। दार्शनिक दृष्टि से या आध्यात्मिक दृष्टि से यह भी पक्ष है कि जब तक हम कर्म और क्रिया का आश्रय लेंगे, तब

तक दोष विद्यमान रहेंगे, इसलिए व्यक्ति को क्रिया और कर्म से ऊपर उठ जाना चाहिए।

श्रीरामचरितमानस की मान्यता और श्रीभरत के चरित्र में यही तत्त्व सामने आता है कि भ्रम इसलिए होता है कि उन्होंने कैकेयीजी के प्रति कठोर व्यवहार किया, कैकेयीजी की निन्दा की और ऐसी प्रसिद्धि है कि उन्होंने जीवनभर कैकेयीजी को माँ कहकर नहीं पुकारा। इन घटनाओं के कारण ऐसा लगता है कि जैसे श्रीभरत ने कैकेयीजी का परित्याग कर दिया हो, लेकिन सत्य यह नहीं है।

श्रीभरतजी कैकेयीजी का परित्याग नहीं करते, अपितु आगे चलकर आप देखेंगे कि जब श्रीभरत चित्रकूट जाते हैं तो वहाँ अयोध्या के अगणित नर-नारी तो लाए ही गए, परन्तु जिन कैकेयीजी के कारण श्रीराम का वनगमन हुआ है, वे भी चित्रकूट लाई जाती हैं। क्या श्रीभरत ने यह कहा कि कैकेयी चित्रकूट की ओर न चलें, कैकेयी अयोध्या ही में रहें, मैं कैकेयी का मुख नहीं देखना चाहता? ऐसी कोई बात नहीं है। जब श्रीभरत चित्रकूट जाते हैं, उसके पहले संकेत आता है कि जब तीनों माताएँ सती होने की चेष्टा करती हैं तो श्रीभरत ने कौसल्याजी और सुमित्राजी को तो सती होने से रोका ही, लेकिन उन्होंने कैकेयीजी को भी सती होने से रोक दिया। यदि उनके मन में कैकेयीजी के प्रति विद्वेष होता, घृणा होती कि कैकेयी तो दोषमयी हैं, उनका इस तरह से जलकर नष्ट हो जाना ही अच्छा होगा तो शायद श्रीभरत दोनों माताओं को तो रोकते, लेकिन कैकेयीजी को सती होने से न रोकते, लेकिन श्रीभरत ने कैकेयीजी को भी सती होने से रोक दिया—

गहि पद भरत मातु सब राखीं। २/१६६/२

और इतना ही नहीं, जब वे चित्रकूट जाने लगे, तब दोनों माताओं के साथ-साथ कैकेयीजी को भी साथ लेकर गए। श्रीभरत के साथ कैकेयीजी को भी देखकर गोस्वामीजी को बड़ा आश्वासन मिला। गोस्वामीजी से पूछा गया कि आप श्रीराम के सम्मुख किसकी कृपा के द्वारा पहुँचे? श्रीहनुमान्जी के द्वारा या श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा या श्रीभरत के द्वारा? आपके आचार्य कौन हैं? तो गोस्वामीजी ने यही कहा कि हमारे लिए तो श्रीहनुमान्जी भी वन्दनीय हैं, श्रीलक्ष्मणजी भी वन्दनीय हैं और उनकी महती कृपा हमें प्राप्त है, लेकिन इतना होते हुए भी जिनके माध्यम से मैं अपने आपको

भगवान् के सम्मुख ले जाता हूँ, वे श्रीभरत हैं। अयोध्याकाण्ड के अन्त में वे कहते हैं कि—

कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।

२/३२५ छं.

शरणागति के लिए गोस्वामीजी ने श्रीभरत का ही चुनाव किया। यदि उनसे पूछा जाए कि इसका तात्पर्य क्या है? गोस्वामीजी कहते हैं कि यद्यपि श्रीहनुमान्‌जी और श्रीलक्ष्मणजी भी प्रभु से मिलाने वाले हैं, लेकिन जब मैंने यह देखा कि चित्रकूट की ओर जाते हुए श्रीभरत सारी अयोध्या को प्रभु से मिलाने के लिए ले जा रहे हैं तो मुझे यह तो अच्छा लगा ही, परन्तु जब मैंने उस भीड़ की ओर देखा तो कैकेयीजी को भी उस भीड़ में देखा, जिनके कारण प्रभु को इतना कष्ट हुआ, इतनी पीड़ा हुई, उन कैकेयी को भी श्रीभरत प्रभु के सम्मुख ले गए तो मुझे यह विश्वास हो गया कि मुझ जैसे दुष्ट व्यक्ति को भी प्रभु के सम्मुख ले जा सकते हैं। इस भीड़ में जहाँ पर हर तरह के व्यक्ति जा रहे हैं, वहाँ मैं भी जाने में समर्थ हूँ। वस्तुतः श्रीभरत करते क्या हैं? श्रीभरत कैकेयीजी का परित्याग नहीं करते, अपितु कैकेयीजी को श्रीराम के सम्मुख ले जाते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि हम जीवन में क्रिया का परित्याग कर दें, क्योंकि जब भी हम कोई क्रिया करेंगे तो क्रिया में कोई-न-कोई दोष तो आएगा ही, जैसे आप कथा श्रवण करने के लिए आए हुए हैं तब यह तो हो ही नहीं सकता कि रास्ते में आपके पैरों के द्वारा कुछ जीव-जन्तुओं की मृत्यु न हो गई हो। एक बात तो यह हो सकती है कि आप सोच लें कि चलेंगे तो जीवों की हत्या होगी, इसलिए चलना ही बन्द कर दें। इस तरह से क्रिया का दोष देख करके यदि व्यक्ति क्रिया करना ही बन्द कर दे तो उसका जीवित रहना ही असम्भव हो जाएगा और व्यक्ति के द्वारा सत्कर्म होना भी बन्द हो जाएगा। इसलिए क्रिया का परित्याग नहीं करना चाहिए, अपितु क्रिया में जो दोष हैं, जो कमियाँ हैं, उनको मिटा करके उस क्रिया को भगवान् की ओर ले जाएँ, भगवान् से मिला दें, यही है भगवान् के प्रति समर्पण।

कैकेयीजी भगवान् के पास चित्रकूट में जाती हैं और भगवान् श्रीराघवेन्द्र उनको सबसे पहले हृदय से लगा करके उनका सत्कार करते हैं, मानो क्रियायोग में जो त्रुटि थी, उसको श्रीभरत ने दूर कर दिया और जिस

क्रिया ने श्रीभरत से श्रीराम को दूर किया था, अयोध्यावासियों से श्रीराम को दूर किया था, उसी क्रिया को श्रीभरत ने श्रीराम की ओर मोड़ दिया। मानो यह संकेत किया कि वही क्रिया यदि श्रीराम को मिलाने का साधन बन जाए। यदि रामराज्य का साधन बन जाए तो वह क्रिया निन्दनीया न रह करके पुनः वन्दनीया हो जाएगी और क्रिया के दोषों का निराकरण हो जाएगा।

पहले हम क्रिया के दोषों को ठीक-ठीक समझ लें और फिर हम कैसी क्रिया करें, यही युक्ति गीता में बताई गई है। वहाँ तो युद्ध जैसी क्रिया होनी है, जिसमें हिंसा होगी, अगणित योद्धा मारे जाएँगे, जिससे समाज में अनाचार फैलेगा, वर्णसंकरता फैलेगी, समाज का विनाश और पतन होगा। इसलिए जब अर्जुन युद्ध न करने की बात कहता है और यह कहता है कि मैं भिक्षा माँगकर भोजन कर लूँगा, तो ऐसा लगता है कि वह समझ चुका है कि इस कार्य में कितने दोष हैं। इसलिए इस भीषण कर्म का परित्याग कर देना चाहिए, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण उसी क्रिया की दिशा में अर्जुन को प्रेरित करते हैं।

भगवान् ने अर्जुन को जो प्रेरणा दी, वह यही है कि अर्जुन! तुम किसी प्रकार की, चेष्टा करके भी क्रिया से मुक्त नहीं हो सकते हो! कर्म से भाग नहीं सकते हो। जब कर्म करना ही पड़ेगा तो कर्म के साथ जो समस्याएँ जुड़ी हुई हैं, इतने अनर्थ जुड़े हुए हैं, उनका क्या होगा? तब भगवान् अर्जुन को वह युक्ति बताते हैं कि जिस युक्ति में क्रिया होने के बाद भी, कर्म होने के बाद भी, कर्म की बुराइयों और दोषों से बचा जा सकता है। गीता का समग्र तत्त्वज्ञान और उसका उद्देश्य यही है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भगवान् कई रूपों में, वाणी के द्वारा विराट् रूप के दर्शन के द्वारा अर्जुन के अन्तःकरण की भ्रान्ति को दूर करते हैं।

वस्तुतः गीता और रामचरितमानस दोनों में हमें क्रियायोग की या कर्मयोग की ऐसी युक्ति बताई गई है कि जिससे क्रियायोग या कर्मयोग के जो दोष हैं, उन दोषों से हम बच सकें। क्रिया का सबसे पहला दोष कौन-सा है? जिसकी चर्चा पिछले प्रवचन में प्रारम्भ की गई थी, वह है कर्त्तृत्व का अभिमान, जो सात्त्विक अहंकार के रूप में हमारे अन्दर रहता है कि यह क्रिया मैं कर रहा हूँ। क्रिया के अन्त में दूसरी समस्या होती है, फल पाने की इच्छा। इस क्रिया के बदले में हमें यह मिले! यह मिले!!

यह मिले!!! इसलिए जब हम कर्म करते हैं तो कर्म में पूरी तरह से आसक्त होकर कर्म करते हैं।

इस तरह से क्रिया के तीन मुख्य दोष हैं—पहला दोष है **कर्त्तृत्व का अभिमान,** दूसरा दोष है **फल पाने का लोभ** और क्रिया करने में जो **आसक्ति** है, यह तीसरा दोष है। अगर इन तीनों दोषों को मिटाया जा सके अर्थात् कर्म तो हो। पर कर्त्तृत्व न हो, क्रिया तो हो। पर आसक्ति न हो, और क्रिया तो हो पर फल की आकांक्षा न हो, अगर इन तीनों से बच सकें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह क्रिया अन्ततोगत्वा ईश्वर की प्राप्ति का कारण बनेगी, साधन बनेगी, तब वह कर्मयोग बन जाएगा, जिसकी भगवान् कृष्ण गीता में प्रशंसा करते हैं और इसी प्रकार से रामचरितमानस में भगवान् श्रीराघवेन्द्र कैकेयीजी की प्रशंसा करते हैं तो मानो यह कहते हैं कि क्रिया-प्रयोग के बिना तो मुक्ति नहीं। इन तीनों दोषों को समझ करके इनसे मुक्त हो। इसमें सांकेतिक भाषा है। कर्त्तृत्व से मुक्त होने का पहला संकेत गीता में भी यही था।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को तीनों बातें बताते हैं कि व्यक्ति कैसे अनासक्त हो करके कर्म करे, फलाकांक्षा से रहित हो करके कर्म करे और कर्त्तृत्व के अभिमान से रहित हो करके कर्म करे और तब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से यहाँ तक कह देते हैं कि जिसके अन्तःकरण में ये तीनों दोष नहीं हैं, उस व्यक्ति के द्वारा यदि कोई कठोर कर्म भी होता हुआ दिखाई दे तो उसका परिणाम उसको नहीं भोगना पड़ता—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ गीता-१८/१७

पहले हम कर्त्तृत्व को मिटाने की बात का संकेत कर दें। रामचरितमानस में क्रियायोग के द्वारा कर्त्तृत्व को मिटाने का सर्वश्रेष्ठ संकेत किया गया है, जो दोष कैकेयीजी के चरित्र में संस्कार से आया हुआ है। कैकेयीजी की समस्या यह है कि वे कैकयराज, जो कर्त्तृत्व हैं, उनकी बेटी हैं। इसलिए कैकेयीजी के चरित्र में वह संस्कारगत दोष विद्यमान है कि मैं करने वाली हूँ। जब आप करने वाले हैं तो उसमें यदि कोई अच्छा परिणाम होगा तो वह आपको मिलेगा और उसका यदि कोई बुरा परिणाम हुआ तो वह भी आपको ही भोगना पड़ेगा। ऐसा तो नहीं हो सकता है कि आप अपने को करनेवाला भी मानें और उसके अच्छे से अच्छे परिणाम

को पा लेना चाहें तथा उसका जो बुरा परिणाम हो, उससे आप मुक्ति पाना चाहें। यहाँ पर कैकेयीजी का बड़ा व्यंग्यात्मक चित्र गोस्वामीजी ने प्रस्तुत किया है।

यदि विचार करके देखें तो व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है। व्यक्ति का तो समग्र जीवन ही परतन्त्र है, पर उसने अहंकार के कारण कर्म करने में अपने आपको स्वतन्त्र मान लिया है। वर्णन आता है कि जिस समय श्रीभरत ननिहाल से लौट करके आए, उस समय उन्होंने कैकेयी अम्बा के भवन में प्रवेश किया। यहाँ दो सूत्र हैं—कैकेयी के भवन में दशरथ जाते हैं और श्रीभरत भी जाते हैं, लेकिन दोनों के जाने में एक अन्तर है। दशरथ जाते हैं तो उनका संकल्प अधूरा रह जाता है, वे रामराज्य का संकल्प लेकर कैकेयीजी के पास गए थे, लेकिन वह संकल्प अधूरा रह गया, सिद्ध नहीं हुआ और उन्हीं कैकेयीजी के महल में श्रीभरत भी गए तो भरत वस्तुतः अपने लक्ष्य से विरत तो हुए ही नहीं, बल्कि कैकेयीजी को भी उन्होंने भगवान् के पास पहुँचा दिया। दशरथ और भरत में अन्तर क्या है? दशरथ कैकेयीजी के भवन में आसक्ति लेकर गए थे, वहाँ क्रिया के साथ आसक्ति थी। इस सन्दर्भ में महाराज श्रीदशरथ के चरित्र का जो दुर्बल पक्ष है, वह सामने आता है। इस सम्बन्ध में पुराणों में जो कथा आती है, वह सांकेतिक है और उस कथा के मर्म पर भी ध्यान देना चाहिए।

कथा यह आती है कि दशरथजी के मन में सौन्दर्य के प्रति तो आसक्ति थी ही, इसीलिए उन्होंने कैकेयीजी से विवाह करने का प्रस्ताव किया था और दूसरी ओर महाराज कैकय ने उनसे वचन ले लिया था कि उनकी पुत्री के गर्भ से जो पुत्र होगा, उसी को अयोध्या का राज्य मिलेगा। इस तरह से कर्त्तृत्व, आसक्ति और कर्मफलाकांक्षा ये तीनों मिल गए। कैकयराज कर्त्तृत्व हैं, दशरथजी में आसक्ति है और कैकेयीजी के मन में उन्होंने फलासक्ति की बात डाल दी। इसके बाद जो कथा आती है, वह बड़े महत्त्व की है।

विवाह के पश्चात् जब कैकेयीजी अयोध्या पधारीं तो वहाँ का वातावरण और उनके चरित्र में महत्ता, उनके सद्गुण, पग-पग पर परिलक्षित होने लगे। सचमुच कैकेयीजी तेजोमयी हैं, क्रियामयी हैं और उनके द्वारा क्रिया का जो श्रेष्ठतम पक्ष है, सद्गुणों का पक्ष है, वह दिखाई देता है। वे सेवा

करती हैं और प्रतिक्षण दशरथजी को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करती हैं। आपने सुना हागा कि देवासुर संग्राम में महाराज श्रीदशरथ जब देवताओं की सहायता के लिए गए, तब कौसल्याजी और सुमित्राजी उनके साथ नहीं थीं, लेकिन कैकेयीजी उनके साथ थीं। इससे कैकेयीजी की तेजस्विता तो दिखाई देती है कि वे युद्धक्षेत्र में भी दशरथ के साथ जाती हैं, पर आगे की कथा बड़ी सांकेतिक है, उस पर आप जरा गहराई से ध्यान दीजिए।

युद्ध में रथ के पहिए की कील निकल गई और कैकेयीजी की दृष्टि उधर चली गई और तब रथ का पहिया गिर न पड़े, इसके लिए कैकेयीजी ने अपनी अँगुलियाँ वहाँ लगा दीं। युद्ध के बाद जब दशरथजी ने कैकेयीजी के इस अद्भुत कार्य को देखा तो वे गद्गद हो गए और बोले कि आपने मेरी रक्षा करने के लिए दो अँगुलियों का प्रयोग किया है, आपको मेरे प्रति इतना अनुराग है। आपकी अँगुलियाँ इतनी कोमल हैं, फिर भी आपने रथ को बचाने में उन अँगुलियों को लगाने में संकोच नहीं किया, इसलिए मैं चाहता हूँ कि आप मुझसे दो वरदान माँग लें। कैकेयीजी ने कहा कि नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए। पुनः आग्रह करने पर कैकेयीजी ने स्वीकार कर लिया कि अच्छा! अभी नहीं, कभी भविष्य में मेरे मन में इच्छा उत्पन्न हुई तो मैं ये वरदान माँग लूँगी। इस कथा के अन्तरंग अर्थ पर जरा विचार कीजिए।

कैकेयीजी के चरित्र की यह महत्ता है कि जीवन के हर क्षेत्र में वे पति की संगिनी हैं और वे सर्वत्र दशरथ के साथ जाने के लिए प्रस्तुत हैं। यह तो क्रियायोग की उत्कृष्टता है। दशरथजी के चरित्र की दुर्बलता यह थी कि वे युद्धक्षेत्र में भी पत्नी को रथ पर बैठाकर साथ-साथ ले गए, इसका मनोविज्ञान यही है कि कैकेयीजी के सौन्दर्य के प्रति उनके मन में इतनी आसक्ति थी कि वे युद्धक्षेत्र में भी उनको अलग करने की कल्पना नहीं कर पाते। यह तो कोई गुण नहीं हुआ कि युद्धक्षेत्र में भी हम अपनी प्रिया का सौन्दर्य भी देखते रहें और लड़ते भी रहें। इस प्रकार की वृत्ति का मन में उदय होना आसक्ति की पराकाष्ठा है।

वस्तुतः जहाँ पति के साथ युद्धभूमि में भी जाना कैकेयीजी की तेजस्विता है, परन्तु दशरथजी की आसक्ति है, जो सामने आ जाती है, वहाँ दूसरा पक्ष तो और भी बड़े महत्त्व का है। जिस रथ पर बैठकर असुरों से युद्ध कर रहे हैं, वह रथ बहुत बढ़िया है, परन्तु उस रथ की केवल

एक कील निकल गई। यह बड़ी सांकेतिक भाषा है। इसको गहराई से समझें। रथ पूर्ण होना चाहिए, रथ में यदि एक छोटी-से-छोटी वस्तु भी कम हो जाए, जैसे कील कम हो गई, जिसका परिणाम होता कि पहिया निकल जाता और रथ असन्तुलित होकर गिर जाता और महाराज श्रीदरशरथ भी गिर जाते। यह रथ कौन सा है? यह धर्मरथ है, जिसपर बैठकर बुराइयों से युद्ध किया जाता है, लंका के युद्ध में विभीषणजी से श्रीराम ने बताया कि–

सखा धर्ममय अस रथ जाकें।
जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥ ६/७६/११

जिसके पास ऐसा धर्मरथ विद्यमान है, वही संसार में दुर्गुणों को जीत सकता है और दूसरा कोई नहीं जीत सकता। इसको अब यों देखिए कि दशरथजी धर्मरथ पर बैठे हुए हैं और कैकेयीजी के रूप में क्रियाशक्ति को उन्होंने साथ में ले लिया है, लेकिन इस रथ में केवल एक छोटी-सी कमी अनजाने में आ गई और वह कमी यह थी कि उस रथ के पहिए की कील निकल गई, सुरक्षा का साधन मिट गया। दशरथ के चरित्र में जो यह कील की कमी है, वह आगे चलकर भी सर्वत्र दिखाई देती है। दशरथजी का महत्तम चरित्र है, पर कैकेयी के प्रति आसक्ति के कारण वे जीवन में सन्तुलित नहीं रह पाते, समत्व में स्थित नहीं हो पाते। यही संकेत इस प्रसंग में भी प्रस्तुत किया गया, जब दशरथ अयोध्या के सिंहासन पर बैठे हुए हैं और चारों ओर से लोग उनकी प्रशंसा कर रहे हैं–

तिभुवन तीनि काल जग माहीं।
भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥ २/१/४

प्रशंसा सुनकर महाराज दशरथ दर्पण हाथ में लेकर अपना मुँह देखने लगे–

रायँ सुभायँ मुकुरु कर लीन्हा।
बदनु बिलोकि मुकुटु सम कीन्हा॥ २/१/६

यहाँ पर भी वही संकेत है कि दशरथजी प्रशंसा से ही प्रभावित नहीं होते हैं, अतः दर्पण में स्वयं अपना मुख देखते हैं। प्रशंसा से प्रभावित होने का अर्थ है कि प्रशंसक आपको अपनी आँख से देख रहा है और आप प्रशंसक की आँख से अपने को देख रहे हैं, परन्तु दर्पण में देखने का अर्थ है कि आप अपनी आँख से अपने को देख रहे हैं। प्रशंसक की प्रशंसा से प्रभावित न होकर हमें यह समझने की चेष्टा करनी चाहिए कि

सचमुच हम कैसे हैं? और लोग जो कुछ कह रहे हैं, वह कहाँ तक ठीक है? दशरथजी ने स्वयं जो देखा तो वहाँ छोटी-सी कमी दिखाई पड़ी। दशरथजी की यदि प्रशंसा की जाए तो ठीक ही है, जिनके लिए रामायण में कहा गया है कि राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न जैसे पुत्रों को जिन्होंने प्राप्त किया हो, जिनकी महारानी कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी हों, जिन्होंने श्रीराम को गोद में क्रीड़ा कराया हो, उनके चरित्र की महत्ता में सन्देह तो हो ही नहीं सकता।

दशरथजी का रथ पूरा था, लेकिन फिर भी उसमें एक कील की कमी तो थी ही, और यह कील की कमी ही उनके लिए आगे चलकर बड़े संकट का कारण बनी। वैसे तो लगता है कि कैकेयीजी कितनी श्रेष्ठा हैं, साथ में गईं और युद्धक्षेत्र में उन्होंने रथ को बचाया, लेकिन आगे अयोध्या में जितना भी अनर्थ हुआ, वह सारा का सारा इन दो वरदानों को लेकर ही तो हुआ। न वे साथ में गई होतीं, न उस प्रकार की घटना होती और न आगे चल करके इन दो वरदानों के माध्यम से इतने बड़े अनर्थ की सृष्टि होती। पर महाराज दशरथ के चरित्र में वहाँ पर भी दिखाई देता है कि जब दर्पण में उन्होंने देखा तो और तो सब ठीक था, परन्तु उनका मुकुट थोड़ा टेढ़ा हो गया था। जब कोई वस्तु बीचों-बीच रहती है तो समत्व में रहती है, पर यदि इधर या उधर हो जाए तो उसके गिरने की आशंका है, उसके असन्तुलित होने की आशंका है।

दशरथजी ने यह अनुभव कर लिया कि अब मेरे चरित्र में सन्तुलन नहीं है, समत्व नहीं है, क्योंकि मेरा मुकुट झुका हुआ है। इसका सांकेतिक अर्थ है कि तीनों रानियों के प्रति बराबर प्रेम होना चाहिए, एक जैसा व्यवहार होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि कैकेयीजी के सौन्दर्य से वे विशेष आकृष्ट हैं और वे स्वयं कैकेयीजी से कहते हैं कि कैकेयी! तुम तो जानती ही हो कि चन्द्रमा के समान तुम्हारे मुख को चकोर की तरह देखने के लिए मैं निरन्तर व्यग्र रहता हूँ।

जानसि मोर सुभाउ बरोरू।
मनु तव आनन चंद चकोरू॥ २/२५/४

इसका अभिप्राय यह है कि महान् से महान् पुरुष में भी, श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ चरित्र में भी किसी-न-किसी प्रकार की न्यूनता विद्यमान रहती है। यह न्यूनता दशरथजी के चरित्र में आगे चलकर और भी प्रकट हो जाती है।

अतः तीन संकेतों में मुकुट का टेढ़ा होना, रथ के पहिये की कील का निकल जाना और आगे चलकर कैकेयी के महल में काँपते हुए जाना, महाराज दशरथ की दुर्बलता ही है। तब गोस्वामीजी ने आलोचना करते हुए कहा कि–

सुरपति बसइ बाहँबल जाकें।
नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई।
देखहु काम प्रताप बड़ाई॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे।
ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥ २/२४/२-४

मानो संकेत यह है कि आसक्ति और काम दशरथजी के चरित्र के ये दो दुर्बल पक्ष हैं और भगवान् कृष्ण वेदों की भी जो थोड़ी आलोचना करते हैं तो यही कहते हैं कि वेदों में भी उपासना और ज्ञान का बड़ा महत्त्व है, लेकिन वहाँ क्रिया का महत्त्व इतना अधिक बढ़ा दिया गया है, क्रिया की इतनी अधिक चर्चा की गई है कि–

क्रियाविशेषबहुलाम्। गीता-२/४३

और क्रिया का उद्देश्य क्या है?–

भोगैश्वर्यगतिं प्रति। गीता-२/४३

क्रिया के द्वारा प्रायः व्यक्ति केवल भोग और ऐश्वर्य ही पाना चाहता है। वेद के सन्दर्भ में जहाँ पर क्रिया का उद्देश्य केवल मात्र भोग की प्राप्ति होगी, वहाँ पर हम चाहे कितनी भी उत्कृष्ट क्रिया क्यों न करें? हम संकट में पड़े बिना नहीं रहेंगे। कैकेयीजी निष्काम हैं कि सकाम? उन्होंने रथ को बचा लिया और कील की जगह अपनी अँगुली लगाने में भी संकोच नहीं किया, इससे लगता है कि कष्ट सहन करने की भी उनमें अद्भुत क्षमता है, लेकिन दशरथजी ने तो यही सोचा कि इनसे विवाह भी हुआ है तो कुछ बदले में देने पर हुआ है, इसलिए जब इन्होंने मेरे लिए कुछ किया है तो मुझे भी तो इनको बदले में कुछ वचन देना चाहिए।

क्रिया में बदले में कुछ पाने की जो वृत्ति है, वह बड़ी प्रबल होती है, परन्तु इस प्रसंग में लगता यह है कि कैकेयीजी ने नहीं कर दिया, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि कैकेयीजी निष्काम हैं। उनके चरित्र का जो बहिरंग रूप है, उसमें तो उनकी निष्कामता और त्याग का ही पक्ष

दिखाई देता है, परन्तु उनके अन्तःकरण में निष्कामता की आड़ में भी सकामता ही दिखाई दे रही है। इसका क्या अर्थ हुआ? जब इन्होंने कहा कि मैं दो वरदान नहीं लूँगी तो लगा कि कितनी निष्काम हैं? लेकिन जब माँगने चलीं तो ऐसा माँगा कि पता चल गया कि इससे तो बढ़िया यही था कि उसी समय माँग लेतीं?

ब्याज पर रुपया उधार देने वाले को निष्काम कहें कि सकाम कहें? लगता है कि जिसने रुपया लिया, वह सकाम है और जो दे रहा है, वह निष्काम है, लेकिन देते समय जिसके मन में ब्याज सहित वापस लेने की इच्छा है, उसकी वह निष्कामता तो सकामता की अपेक्षा भी अधिक सकाम है। इसका मूल तात्पर्य क्या है? दशरथजी की आसक्ति और कैकेयीजी के अन्तःकरण में ऊपर से तो निष्कामता विद्यमान है, परन्तु भीतर से घोर सकामता है, जैसा कैकेयी ने स्वयं दशरथजी से स्पष्ट कह दिया कि—

मागु मागु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु बरदान दुइ तेउ पावत संदेहु॥ २/२७

महाराज! आप माँगने की बात ही किया करते हैं, पर देते-लेते कभी कुछ नहीं। आपने जो दो वरदान देने के लिए कहा था, वह भी देंगे कि नहीं, इसमें सन्देह है। महाराज दशरथ तो उसकी सुन्दरता पर इतने मग्न थे कि कैकेयी को मनाते हुए कहने लगे कि—

दुइ कै चारि मागि मकु लेहू॥ २/२७/३

अरे! तुम दो के बदले में चार माँग लो। कैकेयी ने मन ही मन सोच लिया कि पहले दो तो दे दीजिए। दो देने में ही आपकी जो दशा हो रही है, वह मैं समझ रही हूँ, चार देने की बात तो आप भविष्य में कीजिएगा। यह कैकेयी के चरित्र में सकामता है। तब बड़ी समस्या होती है, जब व्यक्ति अपने आपको निष्काम समझता है, कभी-कभी ऐसा होता है कि भ्रम हो जाता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए, हम निष्काम हैं, परन्तु उस निष्कामता के मूल में कहीं-न-कहीं और भी पाने की तीव्र आकांक्षा एवं कामना छिपी हुई होती है और यही कैकेयीजी के चरित्र में विद्यमान है तथा आगे चल करके फिर यही समस्या आती है कि अन्त में उन दो वरदानों का दुष्परिणाम कितना घातक हुआ?

महाराजश्री दशरथ की आसक्ति और कैकेयीजी की जो दिखाई देने वाली निष्कामता है, उसने बाद में कितना बड़ा संकट खड़ा कर दिया,

यह आगे चलकर दिखाई पड़ा। जैसे खेत में जब किसान बीज डालता है तो ऐसा लगता है कि किसान ने वे बीज खो दिए, परन्तु किसान निष्काम है कि सकाम? खेत में बीज डालने वाला किसान तो पक्का सकाम है। वह तो बीज इसीलिए डाल रहा है कि जितने बीज मैं डालूँगा, वे कई गुना होकर हमको वापस मिलेंगे। इसी प्रकार से कर्म करते हुए कई बार हमको यही कल्पना रहती है कि यह तो कई गुना होकर हमको वापस मिलने ही वाला है।

कोई सिद्ध महात्मा नग्न रहते थे, तो किसी ने उनको कीमती शाल लाकर अर्पित किया। महात्मा ने कहा कि मुझको तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिन्होंने शाल दिया था, वे बड़े विनोदी थे। उन्होंने कहा कि महाराज! मैं तो व्यापार करता हूँ, यह भी मेरा एक तरह से व्यापार ही है। मैंने शास्त्रों में सुना है कि महापुरुषों को जो वस्तु भेंट की जाती है, वह हजारों गुना होकर वापस मिलती है। मैं तो इसीलिए भेंट कर रहा हूँ कि हजारों गुना होकर यह हमको वापस मिलेगा। महात्माजी भी बड़े विनोदी थे। जब वे जाने लगे तो महात्माजी ने तुरन्त वह शाल उतारा और उनको दे दिया कि एक तो अभी लेते जाइए, बाकी नौ सौ निन्यानबे मिलेगा कि नहीं मिलेगा, यह तो भविष्य की बात है।

इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के लोभ की, कामना की कोई सीमा नहीं है और इस कामना की सीमा में यह आवश्यक नहीं कि जो कामना करे, वह पूर्ण ही हो। कामना में दोष नहीं है, दूसरे को कष्ट पहुँचाए बिना अपनी कामना की पूर्ति ही कामना है, लेकिन ऐसा होना बहुधा असम्भव हो जाता है। जब हम अपनी कामना की पूर्ति करना चाहते हैं तो कामना की पूर्ति करते समय हम दूसरों को कष्ट पहुँचाकर भी अपनी कामना की पूर्ति करना चाहते हैं। ये जो क्रिया के दोष हैं, या क्रियारूपी कैकेयी के दोष हैं, हम उन दोषों को मिटा दें, जैसा कि भरत ने मिटाया।

कैकेयीजी के अन्तःकरण का कर्तृत्व इतना प्रबल है कि जिस समय महाराजश्री दशरथ की मृत्यु हो गई, इतना बड़ा अनर्थ हो गया, श्रीराम वन चले गए, श्रीभरत को ननिहाल से बुलाया गया और श्रीभरत ने जब आकर सर्वप्रथम कैकेयीजी के महल में प्रवेश किया तो देखने वाले चौंक पड़े। उस समय अयोध्या में कई प्रकार के व्यक्ति थे, लोगों की अलग-अलग

धारणाएँ थीं। कुछ लोगों की मान्यता थी कि अयोध्या में जो कुछ अनर्थ हुआ है इसके पीछे ननिहाल में बैठे हुए भरत का हाथ है, लगता है कि भरत ने ही अपनी माँ को सिखा दिया था, पढ़ा दिया था कि मैं सामने रहकर राज्य माँगूँ तो यह ठीक नहीं रहेगा। मैं ननिहाल चला जाता हूँ और तुम मेरे लिए राज्य माँगो और श्रीराम के लिए वनवास माँगो। अतः इस योजना के पीछे भरत का षड्यन्त्र है और कुछ लोगों की मान्यता यह थी कि श्रीभरत ऐसा कभी नहीं कर सकते—

रामु भरत कहुँ प्रानपिआरे। २/४७/८

भरत को तो राम प्राण से अधिक प्रिय हैं। चाहे चन्द्रमा से अग्नि निकलने लगे, पर श्रीभरत राम के प्रतिकूल नहीं जा सकते। परन्तु एक तीसरा बड़ा वर्ग ऐसा था कि जिसके मन में यह धारणा थी कि बिना प्रमाण के हम कैसे अच्छा मान लें या बुरा मान लें? आगे चलकर घटनाएँ बतलाएँगी कि भरत अच्छे हैं कि बुरे हैं? तो जिस समय श्रीभरत ननिहाल से लौटकर अयोध्या में आते हैं, उस समय सबकी दृष्टि श्रीभरत पर अटकी हुई है, परन्तु श्रीभरत को लोग दूर से प्रणाम करते हैं, श्रीभरत के पास कोई नहीं जाता। अभी भरत के प्रति उनके मन में सद्भाव का उदय नहीं हुआ है—

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवँहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय बिषाद मन माहिं॥ २/१५८

जब लोग दूर-दूर से प्रणाम करते हैं तो श्रीभरत का हृदय व्याकुल हो जाता है कि मेरे पास आने में लोग क्यों कतरा रहे हैं? परन्तु वे भीड़ के मारे यह पूछ भी नहीं पा रहे हैं कि यहाँ पर क्या हो गया है? लोगों ने देखा कि श्रीभरत कहाँ जा रहे हैं? श्रीभरत जा रहे थे कैकेयीजी के भवन में। यह देखकर जिन लोगों ने यह कहा था कि इस षड्यन्त्र में भरत का हाथ है, उन लोगों को लगा कि प्रमाण मिल गया। यदि ये षड्यन्त्रकारी न होते तो ननिहाल से लौटने पर सबसे पहले बड़ी माता के महल में जाते, कौसल्याजी के महल में जाते! लेकिन अपनी माता के महल में जाने का अर्थ है कि ये कौसल्या और कैकेयी में भेद करते हैं, इनमें भेद बुद्धि है। अपनी माता के प्रति इनके मन में आसक्ति है, इसीलिए जा रहे हैं, लेकिन श्रीभरत क्यों गए थे? फिर वही संकेत है कि क्रिया का परित्याग करें कि नहीं? क्रिया को महत्त्व दें कि नहीं?

श्रीभरत कैकेयीजी के महल में इसीलिए नहीं गए थे कि कैकेयीजी

मेरी माँ हैं, बल्कि इसलिए गए थे कि श्रीराम सहित दशरथजी भी यहीं होंगे, जैसा कि बहुधा होता था। एक दिन एकान्त में प्रभु ने भरतजी से पूछा कि भरत! तुम तो श्रेष्ठ सन्त हो और तुम्हारे मन में तो किसी के प्रति द्वेष हो ही नहीं सकता है, इसलिए तुम्हारे मन में माँ के प्रति द्वेष हो, यह तो मुझे सम्भव नहीं लगता, लेकिन तुम उन्हें माँ कहकर नहीं पुकारते हो? इसका कारण क्या है? श्रीभरत ने चरणों को पकड़कर कहा कि प्रभु! कोई वस्तु कितनी भी बढ़िया हो, पर बढ़िया वस्तु कभी-कभी किसी के लिए कुपथ्य भी हो जाती है, जैसे—घी, दूध आदि वस्तुएँ अच्छी एवं प्रशंसनीय मानी जाती हैं, लेकिन ये वस्तुएँ कई बार लोगों के शरीर में रोग की सृष्टि भी कर देती हैं।

श्रीभरत ने पूछा कि प्रभु! यदि अच्छी वस्तु किसी को हानिकारक हो तो उसको देनी चाहिए कि नहीं? नहीं देनी चाहिए! श्रीभरत ने कहा कि प्रभु! बचपन से ही मैंने कैकेयी को माँ कहकर पुकारा तो उन्होंने अपने बेटे के लिए इतना अनर्थ कर दिया, फिर से यदि माँ कहकर पुकारूँ तो पता नहीं क्या हो जाएगा? यह शब्द तो इनके लिए कुपथ्य ही है। अगर यह भाव इनके भीतर गहराई से जमा रहेगा कि भरत मेरा बेटा है तो मेरे बेटे के लिए सब कुछ होना चाहिए, यह भाव तो मिटना ही चाहिए। इसलिए मैं उनको माँ कहकर नहीं पुकारता, माँ शब्द ही इनके लिए महान् कुपथ्य है।

वस्तुतः श्रीभरत की विशेषता क्या है? वे किस नाते से कैकेयीजी के महल में आए? वे क्रिया के नाते नहीं, अपने नाते से नहीं कि मेरी माँ हैं! तब किस नाते से आए? सुमित्रा अम्बा ने लक्ष्मणजी से कहा था कि लक्ष्मण! नाता मानने के लिए केन्द्र एक ही है। व्यावहारिक दृष्टि से संसार में जितने नाते माने जाते हैं, वे शरीर को केन्द्र मानकर माने जाते हैं, परन्तु माँ सुमित्रा कहती हैं कि लक्ष्मण! प्रियता, पूजनीयता और सम्बन्ध की एक ही कसौटी है, सब राम के नाते से हैं—

पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें।
सब मानिअहिं राम के नातें॥ २/७३/७

श्रीभरत की विशेषता यह है कि वे कैकेयीजी से प्रारम्भ में बड़ा प्रेम करते थे, परन्तु आज जब वे कैकेयी के महल में सबसे पहले गए थे तो राम के नाते से गए थे, अपने नाते से नहीं गए थे। यह प्रसिद्ध है कि भगवान् श्रीराघवेन्द्र तीनों माताओं में सबसे अधिक ध्यान कैकेयीजी

का रखते थे। इसके दो अर्थ हैं—या तो यह मान लें कि कैकेयीजी सबसे श्रेष्ठ थीं, इसलिए वे कैकेयीजी का सबसे अधिक ध्यान रखते थे। इसे यों भी कह सकते थे कि तीनों योगों में भगवान् श्रीराघवेन्द्र क्रियायोग का विशेष ध्यान रखते थे।

ज्ञानयोग से तो भगवान् का प्राकट्य ही होता है, उपासना योग तो उन पर पूर्ण समर्पित ही है। सुमित्रा अम्बा तो अपने पुत्रों सहित भगवान् श्रीराम के प्रति समर्पित ही हैं, परन्तु कैकेयी अम्बा के प्रति भगवान् श्रीराम का इतना सम्मान है कि वे तीनों माताओं में सबसे अधिक यदि वे किसी के पास रहते हैं तो वे कैकेयीजी हैं। बाल्यावस्था से ही श्रीराम का यही नियम था। गोस्वामीजी ने तो यहाँ तक लिखा है कि कौसल्या अम्बा ने जब श्रीराम को पहला पाठ पढ़ाया तो कैकेयी के सम्मान का पाठ पढ़ाया।

गीतावली में आया है कि जब श्रीराम ने बोलना प्रारम्भ किया और कौसल्याजी को माँ कहकर पुकारा तो उन्होंने राम के मुख पर हाथ रख दिया और राम से कहा कि जिस शब्द से तुमने मुझे सम्बोधित किया है, वह माँ शब्द मेरे लिए उपयुक्त नहीं है, तेरी माँ तो कैकेयी हैं और सचमुच श्रीराम ने वह पाठ ठीक-ठीक पढ़ लिया और सदा कैकेयीजी के प्रति प्रगाढ़तम् भावना रखी और उनका सर्वाधिक ध्यान रखा। इसमें कौसल्याजी में ज्ञानयोग दिखाई देता है। इतना समत्व है कि अपने पुत्र को अपना नहीं, सौत का बता दिया। कहा कि शरीर की दृष्टि से मत देखो, भावना की दृष्टि से तुम्हारी माँ कैकेयी हैं।

कैकेयीजी श्रीराम को सबसे अधिक प्रिय हैं और कैकेयीजी के महल में ही श्रीराम सबसे अधिक रहते हैं, इस बात का प्रत्येक व्यक्ति को पता था और इसका पता श्रीभरतजी को भी था और इसीलिए वे कैकेयीजी के भवन में ही सर्वप्रथम गए, लेकिन इसी को यदि उलटकर देखें तो इसका दूसरा पक्ष भी है। गोस्वामीजी ने वह भी लिखा है। वह क्या है? **बहुत ध्यान रखना**, आदत की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है, लेकिन यदि किसी का बहुत ध्यान रखना पड़े तो उसके लिए गोस्वामीजी ने एक दूसरा दृष्टान्त दिया। किसी ने पूछा कि श्रीराम को हर समय कैकेयीजी की ही चिन्ता क्यों रहती है? जैसे, यह देखिए कि वन जा रहे थे तो लक्ष्मणजी से कह दिया कि—

मागहु बिदा मातु सन जाई। २/७२/१

कितनी अटपटी बात लगती है? जब वन जा रहे हैं तो श्रीराम को

साथ मिलने जाना चाहिए। प्रभु स्वयं भी लक्ष्मण को साथ लेकर जाते और जाकर सुमित्राजी से कहते कि माँ! मैं वन जा रहा हूँ और लक्ष्मण साथ जाने का हठ कर रहे हैं, तुम्हारी क्या आज्ञा है? परन्तु राम लक्ष्मण से कह रहे हैं कि तुम जाकर माँ से आज्ञा माँग आओ। स्वयं नहीं जा रहे हैं। अतः सुमित्रा अम्बा से मिलन नहीं हुआ। जब सुमित्रा अम्बा वन में आईं, तभी उनके साथ राम का मिलन हुआ। इससे ऐसा लगता है कि जैसे सुमित्राजी का ध्यान प्रभु बिल्कुल नहीं रखते हैं, सुमित्राजी को महत्त्व थोड़ा भी नहीं देते हैं।

प्रभु वन जाते समय कौसल्याजी से एक बार मिले, कैकेयीजी से दो बार मिले और सुमित्राजी से मिले ही नहीं। फिर तीनों में हम किसको महत्त्व दें? अपनी-अपनी दृष्टि से तीनों के चरित्र महत्त्वपूर्ण हैं, पर गोस्वामीजी ने एक बड़ी व्यंग्यात्मक बात कही और वह बड़े काम की है। सबसे अधिक ध्यान किसका रखना पड़ता है? यदि आप अहंकारी को खुश रखना चाहते हैं तो उसका जितना ध्यान रखना चाहिए, उतना दूसरे का नहीं। अहंकारी को सम्मान की बड़ी चाह रहती है। अहंकारी तो भक्त या ज्ञानी है ही नहीं। अहंकार होता है, वहाँ सम्मान की बड़ी भूख होती है।

प्रसिद्ध सन्त श्री उड़िया बाबाजी महाराज ने किसी का बड़ा सम्मान किया तो सेवकों को बुरा लगा कि महाराज! आपने क्या इनको इतना महत्त्व दे दिया? इस व्यक्ति में ऐसी क्या विशेषता थी कि इसको इतना सम्मान दिया? किसी त्यागी महात्मा को सम्मान मिलता तो ठीक था, लेकिन एक संसारी व्यक्ति को आपने इतना अधिक महत्त्व दे दिया। तब बाबा ने हँसकर यही कहा कि भई! हमारे पास लोग तरह-तरह की कामना लेकर आते हैं और चाहते हैं कि मैं पूर्ण करूँ! वह बेचारा सम्मान कामना लेकर आया था तो क्या मुझमें इतनी कंजूसी है कि मैं उसकी इतनी-सी कामना भी पूर्ण न करूँ?

भगवान् श्रीराम यदि सुमित्रा अम्बा का बिल्कुल ध्यान नहीं रखते तो इसलिए कि वे सबसे अधिक निश्चिन्त यदि किसी से हैं तो सुमित्रा अम्बा से ही हैं। चाहे जाएँ, चाहे न जाएँ, हमारी माँ तो उसका अच्छा अर्थ ही लेंगी। सचमुच सुमित्रा अम्बा और श्रीराम दोनों की भावना बड़ी अद्‌भुत है। राम भी मिलने नहीं गए और उससे भी विलक्षण कार्य किया सुमित्रा ने। दूसरी माता होती तो शायद लक्ष्मण को रोक देती कि राम

मुझसे मिलने तक नहीं आए और मेरे बेटे को ले जाना चाहते हैं? तुम कदापि नहीं जाओगे। पर नहीं, माँ ने लक्ष्मण को रोकने के स्थान पर लक्ष्मण को विदा कर दिया और आश्चर्य यह है कि स्वयं श्रीराम से मिलने के लिए नहीं आईं, पर दोनों की भावना इतनी ऊँची है।

क्रिया की दृष्टि से तो लगता है कि न तो सुमित्राजी ने श्रीराम का ध्यान रखा और न राम ने सुमित्रा का। श्रीराम से किसी ने पूछा कि आप सुमित्राजी से मिलने क्यों नहीं गए? प्रभु ने कहा कि भई! यदि किसी से कर्ज लिया हुआ हो और फिर नया कर्ज लेना पड़े तो कौन ऐसा निर्लज्ज होगा कि वह धनी के सामने जा करके फिर नया कर्ज माँगेगा? मैं तो माँ का इतना ऋणी हूँ कि मेरा तो इतना साहस ही नहीं हुआ कि फिर मैं माँ से जाकर कहूँ कि तुम अपने बेटे को मुझे दे दो। मैं अपनी माँ की महत्ता को जानता हूँ, मेरी माँ इतनी श्रेष्ठ हैं कि मैं जितना भी माँगूँ, वह तो निश्चित रूप से देती ही जाएँगी, उनमें कभी पाने की इच्छा नहीं होती। इसलिए संकोच के कारण मैं नहीं जा सका। मैं तो माँ को इतनी गौरवमयी मानता हूँ कि माँ को मेरे व्यवहार से कभी असन्तोष नहीं हो सकता।

सुमित्रा अम्बा भगवान् के पास क्यों नहीं गईं? सुमित्रा अम्बा ने सोचा कि राम बड़े संकोची हैं। अगर मैं लक्ष्मण को लेकर जाऊँगी तो राम को ऐसा लगेगा कि मैं अपना बेटा देने के लिए आई हूँ और संकोच के मारे राम गड़ जाएँगे। मेरे जाने से राम की आँखों में संकोच आए, इससे बुरी बात और कोई नहीं होगी। श्रीराम तो निरन्तर मेरे ध्यान में ही हैं, यदि मैं शरीर से न भी जाऊँ तो कोई बात नहीं। सुमित्राजी की बात तो भावराज्य की बात है, वे तो उपासना हैं ही। भावराज्य का अर्थ ही यही है। याद रखिए कि जहाँ पहले क्रिया देखकर निर्णय किया जाए कि यह व्यक्ति मुझे महत्त्व देता है कि नहीं, मुझे सम्मान देता है कि नहीं, मुझे अच्छा मानता है कि नहीं? यह एक दृष्टि है, परन्तु भावना की विशेषता क्या है?

क्रियायोग वाले पहले देखते हैं और बाद में व्याख्या करते हैं और भावुक व्यक्ति पहले मान लेता है और फिर बाद में उस मान्यता के अनुकूल व्याख्या करता है तो भगवान् राम कैकेयीजी का बहुत ध्यान रखते थे, वह थोड़ी चिन्ता की बात थी। भगवान् राघवेन्द्र को पता था कि इनमें थोड़ी सात्त्विक अहंकार की भावना है, इसलिए यदि इनको अधिक सम्मान नहीं दिया जाएगा तो इनको असन्तोष होगा, दुःख होगा।

गोस्वामीजी ने तो गीतावली में और सामान्य दृष्टान्त दे दिया कि यदि अपने शरीर में कोई फोड़ा हो जाए तो सबसे अधिक ध्यान तो फोड़े का ही रखना पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं कि फोड़ा ही सबसे अच्छा लग रहा है–

निज तन मरम कुठाउँ।

इसका अभिप्राय है कि भगवान् जानते हैं कि जहाँ अहंकार है, मैं है, वहाँ सम्मान की बड़ी भूख है। कैकेयीजी के चरित्र में पिता से मिला हुआ संस्कार था कि मैं कैकयनरेश की बेटी हूँ और पिता को भी यही अभीष्ट था कि मेरी बेटी के पुत्र को ही राज्य मिले और कैकेयी के मन में इतने सम्मान की इच्छा थी तथा सम्मान पाने की उनके मन में जो दुर्बलता थी, वह मन्थरा के साथ संवाद में भी प्रकट हो गई। जब कैकेयीजी ने मन्थरा से कहा कि–

कौसल्या सम सब महतारी।
रामहि सहज सुभायँ पिआरी॥ २/१४/५

अगर इतना ही कहा होता तो सम्मान की भूख वाली बात नहीं रहती, पर आगे कहा कि–

मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। २/१४/६

इसका अर्थ है कि कैकेयीजी को इतने मात्र से सन्तोष नहीं है कि सब माताओं की बराबरी में हमको स्थान दिया जाए! वे चाहती हैं कि मुझे सबसे ऊपर स्थान दिया जाए। वह कामना उनके अन्तःकरण में बड़े वेग में विद्यमान है। यही अहम् की वृत्ति है। श्रेष्ठ कर्म करने वालों में भी यह दुर्बलता दिखाई देती है कि वे चाहते हैं कि सबके साथ बराबर का व्यवहार किया जाए, परन्तु मुझे अधिक सम्मान एवं महत्त्व दिया जाए। भगवान् राम का कैकेयीजी को अधिक सम्मान देने का अभिप्राय यह था कि यदि सम्मान देने से किसी को प्रसन्नता होती है, सम्मान मिलने से यदि किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में सद्भाव की, सत्कर्म करने की प्रेरणा का उदय होता है तो उसको सम्मान देने में क्या हर्ज है?

भगवान् राम आदि से लेकर अन्त तक जब देखिए तब कैकेयीजी को सम्मान ही तो देते हैं। चाहे वनयात्रा का प्रसंग हो, चाहे चित्रकूट में, जब कैकेयी अम्बा आईं, तब तीनों ही माताएँ सामने हैं, परन्तु भगवान् राम ने सबसे पहले कैकेयी अम्बा को हृदय से लगाया और उनके चरणों पर गिर पड़े, गोस्वामीजी ने लिखा–

प्रथम राम भेंटी कैकेई।
सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी।
काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥ २/२४३/७-८

भगवान् राम पहले उनको महत्त्व देकर बाद में अन्य दोनों माताओं से मिले। तब किसी ने पूछा कि आप तो मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, क्या इसमें मर्यादा की हानि नहीं हुई? मर्यादा की दृष्टि से बड़ी माँ को पहले प्रणाम करना चाहिए। परन्तु श्रीराम ने कहा कि नहीं, राजपुर की परम्परा दूसरी है। राजपुर में कोई अवस्था से बड़ा नहीं होता है। राजपुर में तो राजा सबसे बड़ा होता है और उस दृष्टि से जो राजा की माँ है, वह सबसे बड़ी हैं। अयोध्या के राजा तो भरत हैं, इसलिए हमारी माँ कैकेयी तो राजमाता हैं, इसलिए भी हमको उन्हें महत्त्व देना चाहिए।

इसी प्रकार चित्रकूट के मिलन में भी बड़ी चतुराई से श्रीराम कैकेयीजी को ही महत्त्व देते हैं और जब लंका विजय के पश्चात् अयोध्या लौटकर आते हैं तो गोस्वामीजी ने कहा कि भगवान् श्रीराम विमान से उतरे, अन्य माताएँ स्वागत के लिए आई हुई हैं, लेकिन कैकेयीजी तो ग्लानि और लज्जा के कारण सामने नहीं आती हैं, संकोच में पड़ी हुई हैं, तब भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने क्या किया?—

प्रभु जानी कैकेई लजानी।
प्रथम तासु गृह गए भवानी॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा।
पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा॥ ७/६/१-२

सबसे पहले कैकेयीजी के चरणों में जाकर प्रणाम किया और कहा कि माँ! आज जो सारे संसार में मेरी जयध्वनि हो रही है, यह तुम्हारी कृपा का परिणाम है। तुमने अगर मुझे वन न भेजा होता, अगर मैं रावण का वध न करता तो मुझे इतना श्रेय कैसे मिलता? यह सारा श्रेय तो तुम्हारी कृपा से ही मुझे मिला है। भगवान् श्रीराघवेन्द्र आदि से लेकर अन्त तक इस प्रकार कैकेयीजी को ही महत्त्व देते हैं, पर उसका तात्पर्य यही है कि वे इस तथ्य को समझते हैं कि जिस व्यक्ति को जिस चीज की भूख हो और वह व्यक्ति उस भूख का दुरुपयोग करे तो, यह भी विचारणीय है। अहम् की भूख को उस रूप में तृप्त किया जाना चाहिए कि जिसमें

उस भूख का सदुपयोग हो, पर अगर अहम् की भूख को तृप्त करने से उसका दुरुपयोग होने लगे तो उसे मिटाना ही ठीक है। यहाँ श्रीभरत का जीवनदर्शन कुछ उलटकर है, यह इस दृष्टि से बड़ा ही विलक्षण प्रसंग है। कैकेयीजी की प्रशंसा श्रीभरत ने क्यों नहीं की? भगवान् ने स्वयं उनकी प्रशंसा की और लाभ भी दिखाई पड़ा। दिखाई ऐसा पड़ता है कि जैसे कैकेयीजी के चरित्र में बड़ी उदारता आ गई। विवाह में पिता ने वचन ले लिया था कि मेरी पुत्री से जो पुत्र होगा उसको ही राज्य मिलेगा, लेकिन कैकेयीजी श्रीराम के स्वभाव से, उनके व्यवहार से प्रभावित हो गई। श्रीराम जब अपनी माँ से भी अधिक उन्हें सम्मान देने लगे और दिन-रात उन्हीं के पास बैठे रहने लगे तो वे इतनी प्रभावित हो गईं कि उन्होंने तो महाराज श्रीदशरथ से यह कह दिया कि मैं चाहती हूँ कि अयोध्या का राज्य भरत को नहीं, श्रीराम को मिले।

इसका तात्पर्य है कि उस प्रशंसा और सेवा के द्वारा कुछ त्याग की प्रेरणा भी प्रारम्भ में कैकेयीजी के मन में उत्पन्न हुई। यह जो वृत्ति उत्पन्न हुई, यह तो सदुपयोग है, लेकिन बाद में क्या हुआ? इसको हम यों कह सकते हैं कि यदि दूध पिलाने से शक्ति मिले, तब तो ठीक है, परन्तु यदि किसी को दूध के स्थान पर शराब पिलाने से शक्ति मिलती हो तो उसको शराब पिलाना चाहिए कि नहीं? शराब पिलाकर शक्ति देने वाला तो रावण है, कुम्भकर्ण को जब जगाया तो वह उपदेश देने लगा, तब रावण ने हजारों शराब के घड़े मँगवाए—

रावन मागेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक। ६/६३

इसका सांकेतिक तात्पर्य है। दूध सात्त्विक वस्तु है और सुरा तामसी वस्तु है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ प्रशंसा का सदुपयोग है, वहाँ तो ठीक है, पर कुम्भकर्ण को गोस्वामीजी कहते हैं कि यह मूर्तिमान् अभिमान है। अभिमान को सुरा पिला देना, माने क्या? तमोगुणी अहंकार का जो स्वरूप है, कुम्भकर्ण के जीवन में विद्यमान है। उसको शराब पिला देने का अर्थ यह है कि कुछ लोगों को प्रशंसा सुन करके सत्कर्म करने की प्रेरणा प्राप्त होती है और कुछ लोगों को प्रशंसा सुन करके नशा आ जाता है और नशे में व्यक्ति क्या करेगा? इसका कोई ठिकाना थोड़े ही है। इसलिए कुम्भकर्ण रावण को उपदेश देने लगा—

जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान। ६/६२

सारा उपदेश सुन करके रावण मन-ही-मन हँसता रहा। किसी ने रावण से पूछा कि विभीषणजी ने तो आपका चरण पकड़कर केवल इतना ही तो कहा था कि आप सीताजी को लौटा दीजिए और आपने उसको लात मारकर निकाल दिया तथा कुम्भकर्ण ने आपको दुष्ट तक कह डाला, पर आप बिल्कुल चुपचाप सुनते रहे? रावण ने कहा कि भई! बात यह है कि मैं जानता था कि विभीषण तो राम की ओर चला जाएगा और वह राम की ओर से ही लड़ेगा, लेकिन कुम्भकर्ण का भाषण सुनकर भी मैं जानता था कि भाषण चाहे जैसा भी दे, परन्तु यह लड़ेगा मेरी ओर से ही। फिर इसकी बात सुन लेने में हर्ज ही क्या है? उसको भी सन्तोष हो जाए कि हाँ मेरी बात सुनी। यदि वक्ता यह देखकर गद्‌गद हो जाए कि वाह! मेरा भाषण इतना प्रभावशाली रहा और जब शराब पी लिया तो गोस्वामीजी ने लिखा कि–

महिष खाइ करि मदिरा पाना।
गर्जा बज्राघात समाना॥ ६/६३/१

गर्जना करते हुए श्रीराम से लड़ने के लिए चल पड़ता है। इसका अभिप्राय है कि अहम् का वह अंश जो सत्क्रिया की ओर प्रेरित करे, उसको एक सीमा तक रखने की आवश्यकता रहती है, लेकिन उस सीमा के बाद? बड़ी ही गम्भीर कथा आती है मानस के धनुर्भंग के प्रसंग में। धनुर्भंग के पश्चात् परशुरामजी आए और आकर जनकजी से पूछा कि–

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा। १/२६६/३

जिनको सारे संसार ने ज्ञानी की उपाधि दी, उन्हीं को कहा कि अरे मूर्ख जनक! यदि परशुरामजी से पूछा जाए कि आप इनको मूर्ख क्यों कह रहे हैं? ये तो बड़े ज्ञानी हैं। कहा कि पहले ज्ञानी रहा होगा। जब तक यह शंकरजी के धनुष की पूजा करता था, तब तक मैं भी समझता था कि जनक बड़ा ज्ञानी है, लेकिन इसकी बुद्धि तो देखो कि पूजा करते-करते न जाने क्या दुर्बुद्धि आ गई कि उसने प्रतिज्ञा कर ली कि जो इस धनुष को तोड़ देगा, उसको मैं अपनी कन्या दे दूँगा। आजतक ऐसी नासमझी किसी ने नहीं की कि पहले तो पूजे और बाद में तुड़वाए। यह तो कोई जड़ ही कर सकता है। इसलिए यह पक्का जड़ है। इसका तात्त्विक तात्पर्य क्या है? यह धनुष क्या है? यह भगवान् शंकर का वह धनुष है कि जिसके द्वारा भगवान् शंकर ने त्रिपुरासुर को जीता।

यह धनुष वस्तुतः सात्त्विक अहंकार का ही प्रतीक है और इस सात्त्विक अहंकार का सदुपयोग करते हैं, भगवान् शंकर, दुर्गुणों को जीतकर एवं त्रिपुरासुर को हरा करके, लेकिन भगवान् शंकर की श्रेष्ठता यह है कि जब आप साधन-करेंगे तो किसी न किसी प्रकार का सात्त्विक मैं लेकर चलना पड़ेगा, परन्तु फिर उसमें बुद्धिमत्ता यह है कि हम उसको पकड़े ही न रहें, बल्कि अन्त में उसके परित्याग की बात भी मन में आए! भगवान् शंकर ने इस धनुष का परित्याग कर दिया।

इसका अभिप्राय यह है कि उन्होंने कहा कि अब त्रिपुरासुर मारा गया, अब इस धनुष की कोई उपयोगिता नहीं रही। जैसे लोहे को काटने के लिए हम लोहे का प्रयोग करें तो जो कट गया, वह तो कट ही गया, परन्तु जिस लोहे से काटा, उस लोहे को भी अलग कर देते हैं। इस प्रकार से दुर्गुणों को सात्त्विक अहंकार के द्वारा मिटा दिया और बाद में उस सात्त्विक अहंकार को भी छोड़ दिया कि अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं रही।

परशुरामजी की बात सुन करके डर के मारे जनकजी ने उत्तर नहीं दिया। परशुरामजी का अभिप्राय यह था कि यदि परीक्षा ही लेनी थी तो ऐसी प्रतिज्ञा करते कि धनुष पर बाण चढ़ा करके जो लक्ष्य वेध कर देगा, मैं उसी को अपनी कन्या दूँगा। जो तोड़ देगा, उसको मैं अपनी कन्या दूँगा, यह कैसी मूर्खता है? जनक ने कहा कि महाराज! शंकरजी ने यदि धनुष के साथ बाण भी दिया होता तो मैं चलवाकर देखता, परन्तु जब उन्होंने केवल धनुष ही दिया, बाण नहीं दिया, तब तो उस धनुष को तुड़वाना ही पड़ेगा।

बाणरहित धनुष की क्या उपादेयता है? भगवान् शंकर ने बाण क्यों नहीं दिया? इसलिए कि जब लक्ष्य पूरा हो गया तो बाण की क्या आवश्यकता है? जो उद्देश्य था, वह पूरा हो गया तो बाण की कोई अपेक्षा नहीं है। धनुष ने भगवान् शंकर से पूछ दिया कि आप संसार को तो मुक्ति देते हैं, परन्तु डोरी चढ़ाकर मुझको तो बन्धन में डालते हैं! मेरे छूटने का भी क्या कोई उपाय है? तब शंकरजी ने यही कहा कि तुम भगवान् के चरणों में टूटकर गिर जाना, तब तुम बन्धन से छूट जाओगे, इसके बाद तुमको कोई बाँधेगा नहीं। बने रहोगे, तब तक बँधते रहोगे। टूट जाओगे तो मुक्त हो जाओगे। वस्तुतः इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि जनकजी तो नहीं बोले कि धनुष किसने तोड़ा, परन्तु भगवान् राघवेन्द्र ने कहा कि–

नाथ संभुधनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥ १/२७०/१

सुनकर परशुरामजी के क्रोध की सीमा नहीं रही। क्या दास की यह नई परिभाषा है? कोई किसी कीमती वस्तु को तोड़ दे और कहे कि मैं आपका सेवक हूँ! सेवक वस्तु की रक्षा करता है कि तोड़ता है? वे राम पर बिगड़ गए–

सेवकु सो जो करै सेवकाई।
अरि करनी करि करिअ लराई॥ १/१७०/३

भगवान् राम का तात्पर्य है कि सेवक का कार्य वस्तु को बचाना भी है, परन्तु कभी-कभी सेवक को वस्तु तोड़नी भी पड़ती है। कब? धातु के पात्र में तो जल पीकर सेवक उसको धो-पोंछकर रख देता है, परन्तु मिट्टी के पात्र में जल पीने के पश्चात् उस मिट्टी के पात्र को पटककर छोड़ देना ही सेवक की सेवा है। इसी प्रकार से अहंकार का भी उपयोग व्यक्ति दो प्रकार से करता है। कुछ लोगों के लिए अहंकार धातु का वर्तन है और कुछ लोगों के लिए वह मिट्टी का वर्तन है। धातु का बर्तन समझने वाले तो अहंकार को सदा बचाए रखना चाहते हैं कि इसको धो-पोंछकर रख दो, यह फिर काम देगा, परन्तु जो अहंकार को मिट्टी का पात्र समझते हैं कि भई! यह काम इस सात्त्विक अहंकार के द्वारा हो गया तो अब इसको तोड़ ही देना चाहिए।

श्रीराम ने कहा कि महाराज! मैं तो शंकरजी का सेवक हूँ, जब शंकरजी ने अहम् का त्याग कर दिया तो मैंने उसे तोड़ दिया, मैंने तोड़कर सेवा ही की है। आपको क्या यह नहीं दिखाई देता कि यही सच्ची सेवा है? यह भगवान् राम की भूमिका है और कैकेयीजी के चरित्र का एक पक्ष यह है कि भगवान् राम उनके चरित्र में जो सात्त्विक अहंकार है, जो कर्त्तृत्व है, उन सबका सदुपयोग करते हुए उसको एक दिशा तक ले जाते हैं, परन्तु बाद में जब अहंकार सीमा लाँघ करके बुराई की सृष्टि करने लगता है तो जो-जो क्रियायोग के दोष हैं, वे दोष क्या हैं और कैसे श्रीभरत उनके द्वारा क्रियायोग की कमियों का निराकरण करते हैं, इसकी चर्चा हम आपके सामने अगले प्रवचन में करेंगे।

□□

चतुर्थ प्रवचन

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुख दीन्ह॥ २/९१

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८

उपर्युक्त पंक्तियों में परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं। श्रीकैकेयीजी मूर्तिमती क्रिया हैं और क्रियायोग की समस्या यही है कि बिना क्रिया किए कोई व्यक्ति संसार में एक क्षण भी नहीं रह सकता। सृष्टि का समस्त क्रियाकलाप क्रियाशक्ति के द्वारा ही संचालित दिखाई दे रहा है, लेकिन दूसरी ओर क्रिया के साथ-साथ कई समस्याएँ भी आती हैं। कर्म के साथ अनेक प्रश्न भी आते हैं। ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाना चाहिए? क्रिया या कर्म का सर्वथा परित्याग कर दें क्या? क्रिया के प्रारम्भ में कर्त्तृत्व की समस्या है। प्रत्येक व्यक्ति यह मानकर चलता है कि करने वाला मैं हूँ। जब व्यक्ति अपने को कर्त्ता मानता है तो कर्म के जो दो पक्ष हैं, उनका परिणाम उसको मिलेगा, पर व्यक्ति की प्रकृति यह है कि एक ओर तो वह कर्त्तृत्व स्वीकार करता है, परन्तु उस कर्म से जब किसी विपरीत परिणाम की सृष्टि होती है तो उसे वह किसी-न-किसी बहाने से दूसरे पर डालने की चेष्टा करता है।

कैकेयीजी क्रियायोग हैं और उनके पिता कैकय को चाहे आप कर्त्तृत्व कह लें, चाहे सात्त्विक अहंकार कह लें, यही कर्त्तृत्व या सात्त्विक अहंकार की वृत्ति कैकेयीजी के चरित्र में विद्यमान है। सात्त्विक अहंकार भी त्याज्य इसलिए है कि अहंकार कितना भी सात्त्विक क्यों न हो, उसे रजोगुण और तमोगुण की दिशा में जाने की आशंका बनी ही रहती है। इसका अभिप्राय

है कि सत्त्व की प्रेरणा से तो व्यक्ति सत्कर्म करता है, परन्तु इसके बाद जब उसके अन्तःकरण में गर्व होता है तो स्वाभाविक रूप से उसका जो पुण्य की ओर प्रेरित करने वाला सतोगुणी अहंकार है, वह रजोगुण के रूप में परिवर्तित हो जाता है और एक बार जब व्यक्ति जीवन में रजोगुण को स्वीकार कर ले, तो फिर उसके नीचे उतर करके तमोगुण में चले जाने में कोई आश्चर्य नहीं है।

किसी भी अहंकार को स्वीकार करना वस्तुतः मानो त्रिविध अहंकारों को निमन्त्रण देना है। कैकेयीजी के चरित्र में इसका संकेत मिलता है। वे संस्कार इनके अन्तःकरण में विद्यमान हैं और प्रारम्भ में सत्त्वगुण की प्रधानता दिखाई देती है, फिर सतोगुण के साथ उनमें रजोगुण का मिश्रण हो जाता है और फिर तमोगुण भी अपनी भीषण स्थिति के साथ प्रकट हो जाता है। उसका बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्र श्रीरामचरितमानस में गोस्वामीजी ने प्रस्तुत किया है। वह कैसे होता है? इस पर घटनाक्रम की दृष्टि से यदि विचार करके देखें तो सारी कथा यह है कि विवाह के पश्चात् कैकेयीजी जब अयोध्या में आईं तो उनके चरित्र के अनेक सद्गुण, अनेक विशेषताएँ प्रकट हुई। इतना ही नहीं, महारानी कैकेयीजी ने स्वयं यह संकल्प मन में लिया कि अयोध्या के राजसिंहासन पर तो श्रीराम को बैठाना है।

अतः ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे कैकेयी के अन्तःकरण में अपने और पराये का भेद मिट चुका है, बल्कि अपने की अपेक्षा भी पराये के प्रति अधिक स्नेह उनके मन में है, अधिक त्याग की वृत्ति है और अधिक उदारता उनके जीवन में विद्यमान है, लेकिन यह उदारता कैसे परिवर्तित हो गई? कैसे इतनी भीषण मनःस्थिति कैकेयीजी की हो गई? इसका स्थूल रूप तो यही है कि जब दशरथजी श्रीराम को राजसिंहासन पर बैठाने के लिए उत्सुक हो रहे थे, उस समय सबसे बड़ी प्रसन्नता उनके मन में यह थी कि इस प्रस्ताव की प्रस्ताविका स्वयं कैकेयीजी हैं, इसलिए इस समाचार से सर्वाधिक प्रसन्नता उन्हीं को होगी। उनके अन्तःकरण का यह विश्वास कैसे टूटा? इसको गोस्वामाजी ने इस रूप में प्रस्तुत किया कि अन्य रानियों के पास तो यह समाचार पहुँच गया कि कल अयोध्या के राजसिंहासन पर श्रीराम बैठेंगे, लेकिन कैकेयीजी के पास यह समाचार नहीं पहुँचा। नहीं पहुँचने के पीछे दशरथजी की भावना बड़ी ही मधुर थी, लेकिन बाद में उसकी व्याख्या ऐसी हो गई कि उसका अर्थ ही बदल गया।

आगे वर्णन आता है कि कैकेयीजी को यह समाचार मन्थरा के द्वारा मिला और मन्थरा ने उसको ऐसा रूप दे दिया कि बात बदल गई। मन्थरा ने कैकेयीजी से यह कहा कि अगर इस घटना के पीछे कोई षड्यन्त्र नहीं है तो आपसे यह समाचार छिपाने की चेष्टा क्यों की गई? उसमें थोड़ा असत्य भी मिला दिया। यद्यपि रामराज्य की सारी योजना एक ही दिन के अन्दर बनी थी, पर मन्थरा ने यह असत्य कहा कि इसकी योजना पन्द्रह दिन से हो रही है–

भयउ पाखु दिन सजत समाजू।
तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥ २/१८/३

आपको समाचार मेरे द्वारा मिला और वह भी पन्द्रहवें दिन मिला! इस घटना के पीछे कितना बड़ा षड्यन्त्र होगा? वस्तुतः दशरथजी की जो मधुर सद्भावना थी, उसकी व्याख्या षड्यन्त्र के रूप में कर दी गई। दशरथजी ने दासियों से यह समाचार कैकेयीजी के पास नहीं भेजा, उसके पीछे उनके अन्तःकरण में कैकेयीजी से प्रेम और उनकी प्रसन्नता की वृत्ति थी। प्राचीनकाल में राजकुल में और अन्यत्र भी यह नियम था कि शुभ समाचार देने वाले को पुरस्कार दिया जाता था। कौसल्या और सुमित्रा को जिन दासियों ने यह समाचार सुनाया, उनको पुरस्कार मिला–

प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाए।
भूषन बसन भूरि तिन्ह पाए॥ २/७/१

दशरथजी ने सोचा कि मेरी सबसे प्रिय रानी तो कैकेयीजी हैं, इसलिए यह समाचार किसी दास-दासी के द्वारा न भेज करके मैं स्वयं चलकर सुनाऊँगा। प्रेम के साथ-साथ विनोद की भी वृत्ति थी कि शुभ समाचार सुनाने वाले को जो पुरस्कार दिया जाता है, वह मुझको मिलना चाहिए। क्योंकि मैंने ही यह शुभ समाचार दिया है। दशरथजी तो अपनी आसक्ति और प्रीति के कारण इस भावराज्य में थे। इसीलिए स्वयं यह समाचार सुनाने के लिए वे रात्रि के समय कैकेयीजी के महल में जाते हैं और कहते हैं कि तुम्हें तो आज सबसे अधिक प्रसन्न होना चाहिए, तुम्हारे लिए तो आज से बढ़कर प्रसन्नता का दिन और कोई नहीं है–

भामिनि भयउ तोर मनभावा।
घर घर नगर अनंद बधावा॥ २/२६/२

आप जो अनुरोध मुझसे किया करती थीं, उस अनुरोध को पूरा

करने का मैंने निश्चय किया है कि अयोध्या के सिंहासन पर मैं राम को बैठाने जा रहा हूँ। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दशरथ के मन में कहीं यह कल्पना भी नहीं थी कि इस समाचार को सुन करके कैकेयीजी को प्रसन्नता नहीं होगी और यों यदि देखें तो महाराज श्रीदशरथ की कल्पना प्रारम्भ में ठीक भी जान पड़ी, क्योंकि मानस में भी यही आता है कि मन्थरा से समाचार सुनकर कैकेयीजी प्रारम्भ में इतनी प्रसन्न हुईं कि उन्होंने मन्थरा से मुँहमाँगा इनाम देने के लिए कह दिया–

राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली।
देउँ मागु मन भावत आली॥ २/१४/४

स्पष्ट है कि कैकेयीजी की प्रतिक्रिया प्रारम्भ में वही हुई कि जिसकी कल्पना दशरथजी ने की थी, लेकिन आगे चलकर सब कुछ बदल गया और कैकेयीजी अत्यधिक ऊँचाई से उतरकर नीचे आ गईं, इसका क्या कारण है? बहिरंग दृष्टि से यही कारण दिखाई पड़ता है कि मन्थरा ने कैकेयीजी को भड़काने में सफलता प्राप्त कर ली है और कैकेयीजी अपना सद्‌भाव छोड़कर मन्थरा के बताए मार्ग पर चलने लगी हैं। मन्थरा ने कितना विलक्षण परिवर्तन कैकेयीजी में ला दिया। यह मन्थरा कौन है? इस मन्थरा का स्वरूप क्या है? इस सफलता में मन्थरा की चतुराई तो कारण है ही, परन्तु कैकेयीजी के चरित्र की दुर्बलता भी एक कारण है।

व्यापक रूप से कीटाणुओं का आक्रमण होने पर जिन लोगों के शरीर में कोई दुर्बलता है, रोग से लड़ने की शक्ति नहीं है, वे रोगी हो जाते हैं और बलवान् व्यक्ति उन कीटाणुओं को परास्त कर देते हैं और वे रोगी नहीं होते। बुराई भी एक रोग है। कुछ लोग बुराई के सम्पर्क में आकर भी बुरे नहीं बनते और कुछ बुरे बन जाते हैं। मन्थरा के रूप में रोग के कीटाणु तो हैं ही, परन्तु कैकेयीजी के चरित्र में भी ऐसी कमी है कि जिसके कारण ये रोग के कीटाणु उनके अन्तःकरण पर अधिकार करने में सफल हो गए। कैकेयीजी क्रिया हैं और मन्थरा लोभ की वृत्ति है। यह न जाने कितने वर्षों तक अयोध्या में विद्यमान रही, फिर भी मन्थरा को अयोध्या में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला कि जिसको वह प्रभावित कर सके। ऐसा लगता है कि इतने वर्षों तक कैकेयीजी भी मन्थरा के प्रभाव से बच गईं, क्योंकि मन्थरा उनको अपने अनुकूल चलाने में समर्थ नहीं हुई। गोस्वामीजी ने कहा कि लोभ कफ है। आयुर्वेदशास्त्र की मान्यता

है कि हमारा शरीर वात, पित्त और कफ इन तीन धातुओं के कारण गतिशील होता है, मन भी इसी प्रकार संचालित होता है, उनमें–

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ ७/१२०/३०

यदि वात, पित्त और कफ सन्तुलित मात्रा में रहें तो शरीर स्वस्थ रहेगा। उसी प्रकार मन में भी काम, क्रोध और लोभ इन तीनों की आवश्यकता है। इनके बिना मन सक्रिय नहीं रह सकता। इन तीनों में भी किसी प्रकार से जब असन्तुलन पैदा हो जाता है, किसी एक में या तीनों में जब अतिरेक उत्पन्न हो जाता है तो व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। वैद्य दवा देकर उनमें समता की स्थापना करता है। उसी प्रकार मन्थरा तो अयोध्या में बहुत दिनों तक रही, लेकिन अनर्थ नहीं हुआ। अनर्थ होने के बाद जब शत्रुघ्न और भरत ननिहाल से लौटकर आए तो कैकेयीजी ने बड़े उत्साह से श्रीभरत का स्वागत किया, क्योंकि कैकेयीजी के मन में यह कल्पना थी कि जब श्रीभरत यह सुनेंगे कि उनको राज्य दिलाने के लिए मुझे कितना प्रयत्न करना पड़ा तो वे मेरे प्रति कृतज्ञ हुए बिना नहीं रहेंगे कि माँ ने अपने बेटे के लिए कितना कष्ट उठाया? परन्तु श्रीभरत की आँखें तो श्रीराम को ढूँढ़ रही थीं।

कैकेयीजी के महल में जब श्रीदशरथ जाते हैं तो उनकी सुन्दरता देखने के लिए जाते हैं, लेकिन श्रीभरत उसी महल में जब जाते हैं तो श्रीराम को ढूँढ़ने के लिए जाते हैं और आज भी वे इसी कल्पना से आये थे कि हमारे प्रभु श्रीराम तो माँ कैकेयी के पास ही रहते हैं, यदि अन्य माताओं के पास जाऊँगा तो शिष्टाचार की पूर्ति हो जायगी, क्योंकि शिष्टाचार तो यही है कि मैं बड़ी माँ के पास पहले जाऊँ, लेकिन मैं यह जानता हूँ कि वहाँ जाने से सबका साक्षात्कार नहीं होगा और कैकेयी अम्बा के महल में जाने से सबका साक्षात्कार एक ही स्थान पर हो जायगा। होता यह था कि कैकेयीजी को प्रसन्न करने के लिए राम निरन्तर उनके पास रहते थे, तब अन्य माताएँ भी राम के प्रेम से खिंची हुई कैकेयीजी के महल में चली आती थीं और महाराज श्रीदशरथ श्रीराम से भी बहुत प्रेम करते हैं और कैकेयीजी के प्रति भी उनके मन में तीव्र आसक्ति है, इसलिए वे भी बहुधा कैकेयीजी के महल में ही बने रहते थे। सबके अलग-अलग भवन होते हुए भी वस्तुतः कैकेयीजी का भवन

ही सबके रहने का केन्द्र बन चुका है। इसलिए श्रीभरत के मन में यही कल्पना थी कि सबका एक साथ ही साक्षात्कार हम वहीं पर कर लेंगे।

आध्यात्मिक अर्थों में कौसल्याजी ज्ञानमयी, सुमित्राजी उपासनामयी और कैकेयीजी क्रियामयी हैं। ज्ञानी के जीवन में क्रिया की आवश्यकता न होते हुए भी उसको क्रिया तो करनी ही होगी, ज्ञानी भी निष्क्रिय नहीं हो सकता। अतः ज्ञानी के जीवन में भी क्रिया होगी। भक्त और उपासक के जीवन में भी क्रिया हुए बिना नहीं रहेगी। भक्त के लिए क्रिया तो मानो अनिवार्य बात है। 'क्रिया के महल में सबका जाना' यह स्वाभाविक है और यदि उपासना ज्ञान से जुड़ी हुई क्रिया है तो वह क्रिया तो ईश्वर को अत्यधिक प्रिय है। जिस क्रिया को ईश्वर के निमित्त किया जाता है, ईश्वर की प्रसन्नता के लिए किया जाता है, वह क्रिया ईश्वर को अत्यन्त प्रिय है और इसीलिए कैकेयीजी भगवान् राम को अत्यन्त प्यारी हैं और भगवान् राम उनके पास निरन्तर रहते हैं। इसलिए उनका महल सबका केन्द्र है और श्रीभरत यही कल्पना लेकर उनके महल में आये, लेकिन उस समय श्रीदशरथजी की तो मृत्यु हो चुकी थी, अन्य माताएँ भी वहाँ नहीं थीं, श्रीराम और लक्ष्मण भी नहीं थे और श्रीभरत की आँखें उन्हीं को ढूँढ़ रही हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि क्रिया के प्रति उद्देश्य की भिन्नता होती है। क्रिया के माध्यम से हम क्या पाना चाहते हैं? महत्त्व इसका है। यदि अच्छी क्रिया का उद्देश्य कोई बुरी वस्तु पाना हो, कोई बुरा लक्ष्य हो तो अच्छी क्रिया भी बुरी है और क्रिया का उद्देश्य अगर ईश्वर को प्रसन्न करना या ईश्वर को पाना है तो ऐसी क्रिया परम कल्याणकारी है। सन्त शिरोमणि श्रीभरत जब कैकेयीजी के महल में आते हैं तो यह मानकर नहीं आते कि कैकेयी मेरी माँ हैं और कौसल्याजी मेरी सौतेली माँ हैं, बल्कि वे तो यह मानकर आते हैं कि कैकेयीजी प्रभु की प्रिय हैं और प्रभु उनके पास ही रहते हैं और वे इसी नाते से आते हैं, क्योंकि–

सब मानिअहिं राम के नातें। २/७३/७

कैकेयीजी तो प्रसन्न होकर के भरतजी की सोने के थाल से आरती उतारती हैं और कल्पना करती हैं कि भरत उत्साह से मुझसे मिलेंगे, परन्तु श्रीभरत की आँखें तो चारों ओर ढूँढ़ रही हैं, खोज रही हैं। जब चारों ओर उन्होंने किसी को नहीं देखा तो उनको न स्वर्णथाल प्रिय लगा, न आरती प्रिय लगी। उन्होंने पहला प्रश्न कैकेयीजी से यही किया–

कहु कहँ तात कहाँ सब माता।
कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता॥ २/१५८/७

माँ! आज आपका घर सूना कैसे है? पिताजी क्यों नहीं दिखायी दे रहे हैं, अन्य माताएँ क्यों नहीं दिखायी दे रही हैं? श्रीराघवेन्द्र और लक्ष्मण क्यों नहीं दिखायी दे रहे हैं? कैकेयीजी ने भूमिका बाँधी कि भरत! अयोध्या में बहुत बड़ा षड्यन्त्र और अनर्थ होने वाला था, लेकिन चिन्ता करने की बात नहीं है, मैंने उस षड्यन्त्र और अनर्थ को रोक दिया है और बड़ी भूमिका से उन्होंने कहा कि–

तात बात मैं सकल सँवारी। २/१५६/१

कैकयनन्दिनि वाली भूमिका अर्थात् तुम्हारे लिए राज्य की योजना है। उसको क्रियान्वित करने की भूमिका को मैंने बड़े प्रयत्न से सँभाला है। नाम मन्थरा का भी लिया, परन्तु मुख्य कौन है? मन्थरा कि मैं? अहंकारी व्यक्ति दूसरे को यदि थोड़ा सम्मान भी दे तो भी मुख्यता तो अपनी ही बतलायेगा। वे यह भी कह सकती थीं कि मन्थरा के कारण ही यह सब सम्भव हो सका। उन्होंने मन्थरा की प्रशंसा की, मगर दबे हुए शब्दों में–

तात बात मैं सकल सँवारी।
भै मन्थरा सहाय बिचारी॥ २/१५६/१

वह बेचारी मन्थरा भी सहायक बन गयी। मैंने तो सब काम बना ही लिया। कैकेयीजी ने जब यह बात कही तो मानो श्रीभरतजी ने पूछा कि माँ! आपने ऐसी कौन सी बात बनायी, जिसमें मन्थरा ने आपकी सहायता की? 'बिचारी मन्थरा' शब्द भी कितना विलक्षण है! मन्थरा और बेचारी? जिसने सारी अयोध्या की व्यवस्था को ही अस्त-व्यस्त कर दिया, पूरी तरह से कैकेयी की बुद्धि को परिवर्तित कर दिया। कैकेयीजी के मुख से 'बेचारी मन्थरा' सुनकर यह लगता है कि सचमुच उनका अहंकार इतना प्रबल है कि वह अपने और मन्थरा के माध्यम से होने वाली सफलता में मन्थरा को यत्किंचित् भाग देना चाहती हैं। श्रीभरत ने पूछा तो कैकेयीजी ने पूरा वृत्तान्त सुनाया। इधर यह वार्तालाप चल ही रहा था कि मन्थरा को यह समाचार मिला कि भरत ननिहाल से लौटकर आ गये। मन्थरा के मन में बड़ी मीठी-मीठी कल्पनाएँ हो रही थीं। यह भविष्य में फल की आकांक्षा की वृत्ति है। मन्थरा के लिए कहा गया था कि मन्थरा लोभ की वृत्ति है, लोभ की वृत्ति की विलक्षणता ही यह है कि लोभ भविष्य से जुड़ा हुआ है।

काम, क्रोध और लोभ ये तीन अवगुण हैं और भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीन काल हैं। हम लोगों के जीवन में इन तीनों कालों पर अवगुणों ने अधिकार कर रखा है। क्रोध ने तो अधिकार कर लिया है भूतकाल पर, क्रोध जब आता है तो बीती बात पर आता है कि ऐसा क्यों हुआ? क्रोध ने अपने आपको जोड़ लिया भूतकाल से और काम अपने आपको वर्तमान से जोड़ लेता है। तत्काल आनन्दरस एवं सौन्दर्य मिलना चाहिए, तत्काल आनन्द मिले, रस मिले, सुख मिले, यह काम की वृत्ति है, पर लोभ की वृत्ति का सम्बन्ध तो भविष्य से है, कल क्या होगा? आगे क्या होगा? भविष्य की कल्पना लोभ से जुड़ी हुई है।

मन्थरा भविष्य की बड़ी सुमधुर कल्पना कर रही थी कि भरत जब यह सुनेंगे कि मैंने अयोध्या का राज्य उन्हें दिलाया है, तो मुझे न जाने कितना ऊँचा पद दे दिया जायगा? कैकेयीजी ने आश्वासन दे दिया था कि मन्थरा! मैं तुमको आज तक पहचान नहीं पायी, क्योंकि मन्थरा बहुत दिनों से अयोध्या में थी, परन्तु दासी थी और उसको कैकेयीजी के पीछे-पीछे चलना पड़ता था और उनकी आज्ञा का पालन करना पड़ता था। वस्तुतः इसी प्रकार मन्थरा को रखने में कल्याण है, क्योंकि यदि क्रिया के पीछे-पीछे लोभ चले तो लोभ रहते हुए भी उतना अनर्थ नहीं कर पायेगा, लेकिन यदि लोभ आगे और क्रिया उसके पीछे-पीछे चलने लगेगी तो दुर्घटना होगी। कैकेयी जब मन्थरा के पीछे चलने लगेगी तो अनर्थ होगा। अगर क्रिया के पीछे लोभ है तो नियन्त्रित है, सीमा में है, परन्तु यदि लोभ के पीछे क्रिया हो जायगी तो कोई सीमा नहीं रहेगी, वह अनियन्त्रित हो जायगी। यही मूल तात्पर्य है।

मन्थरा के ऊपर दो नियन्त्रण थे, एक तो कैकेयी अपनी आज्ञा के अनुकूल चलाती थीं और दूसरी बात यह थी कि जब-जब मन्थरा अपने स्वभाव से बाध्य होकर कुछ कुचेष्टा करती थी, कोई अनर्थकारी योजना बनाती थी तो सबसे अधिक कठोर दृष्टि मन्थरा पर श्रीलक्ष्मणजी रखते थे, जो सदा सजग रहते थे, चौकन्ना रहते थे। उनको लगता था कि यह अनर्थ की जड़ है। इसको नियन्त्रण में रखना चाहिए। अगर मन्थरा को समय-समय पर सीमा लाँघते देखते थे तो उसको फटकारकर या उसकी भर्त्सना करके उसे रोक देते थे। इस प्रकार अयोध्या में, 'समाज' में सन्तुलन बना हुआ था।

अतः लक्ष्मण द्वारा मन्थरा पर नियन्त्रण बना हुआ था और वह कैकेयीजी का अनुगमन कर रही थी। इन दोनों कारणों से मन्थरा समाज के लिए घातक नहीं हो पा रही थी, लेकिन मानस में तो आता है कि जब मन्थरा आँसू बहाती हुई कैकेयीजी को भड़काने के लिए उनके पास आई तो कैकेयीजी को सर्वप्रथम ऐसा ही लगा कि शायद लक्ष्मणजी ने इसको फटकार दिया होगा, इसलिए मन्थरा से हँसकर उन्होंने यही कहा कि अरे! तुम्हारी दशा देखकर मैं समझ गई कि तुम कहाँ से आ रही हो? मन्थरा ने कहा कि आप ज्योतिषी बन गईं? आपको पता चल गया कि मैं कहाँ से आ रही हूँ? पर कैकेयीजी का ज्योतिष ठीक नहीं निकला, क्योंकि उन्होंने तो यही सोचा था कि–

दीन्ह लखन सिख अस मन मोरें। २/१२/७

मुझे तो लगता है कि तुमको आज फिर लक्ष्मणजी ने शिक्षा दी है। लक्ष्मणजी का स्वरूप बड़ा विलक्षण है। उनका नियन्त्रण प्रसिद्ध है। आगे चलकर यह संकेत आता है। लक्ष्मणजी रेखा खींचने में बड़े निपुण हैं। उनकी रेखा का यह चमत्कार है कि उनकी रेखा को लाँघ पाना किसी के लिए, यहाँ तक कि रावण के लिए भी सम्भव नहीं है।

लक्ष्मणजी मन्थरा को मर्यादित रूप से अयोध्या में रखने की चेष्टा करते हैं। यह लक्ष्मणजी के चरित्र के अनुकूल है, लेकिन एक दिन के लिए लक्ष्मणजी मन्थरा की ओर से निश्चिन्त हो गए। कब? जब लक्ष्मणजी को यह समाचार मिला कि कल अयोध्या के सिंहासन पर श्रीराम बैठेंगे, जब लक्ष्मणजी ने सोच लिया कि चलो, अब चिन्ता की कोई बात नहीं रह गई, अब तो जो उद्देश्य था रामराज्य का, वह तो अब कल पूरा हो ही जाएगा। अब मन्थरा से कोई भय नहीं रहा। वे एक क्षण के लिए असावधान हो गए। विचित्र बात है। इसीलिए लक्ष्मणजी ने नींद लेना बन्द कर दिया। बोले कि महाराज! एक रात में कितना अनर्थ हो सकता है? यह मैंने अयोध्या में देख लिया, इसलिए रात्रि में जो अन्धकार होता है, उसमें सजग रहने की अपेक्षा है, यह लक्ष्मणजी की भूमिका है।

मन्थरा जब तक क्रिया के पीछे थी, लक्ष्मण द्वारा नियन्त्रित थी, तब तक वह अयोध्या में रहकर भी किसी प्रकार के अनर्थ की सृष्टि नहीं कर पा रही है। इसका अभिप्राय है कि क्रिया के साथ मनुष्य के जीवन में लोभ रहता है और लोभ में भी अन्तर रखना होगा, रेखा के भीतर

रहना होगा। रेखा का अभिप्राय क्या है? लोभ के दो रूप हैं, एक तो नियन्त्रित रूप है, सीमा रेखा में रहने वाला रूप है और दूसरा रूप है अनियन्त्रित रूप, जहाँ लोभ सीमा का उल्लंघन करता है। लोभ अनियन्त्रित रूप में घातक है।

भक्त के जीवन में या ज्ञानी के जीवन में यदि वह गृहस्थ है तो अर्थ या द्रव्य की और काम की आवश्यकता होगी कि नहीं? अगर यह कहा जाए कि भक्ति का यह लक्षण है कि उसके जीवन में अर्थ और काम बिल्कुल न हो तो यह पूरी परिभाषा झूठी होगी। तब इसका भयंकर परिणाम भी होगा कि जिसके जीवन में दोनों की कामना है, वे भी अपनी कामना को छिपाकर अपने को भक्त एवं ज्ञानी दिखाने की चेष्टा करेंगे, छिपाकर अपनी कामना को पूर्ण करने की चेष्टा करेंगे। इसीलिए नवधा भक्ति प्रसंग में भगवान् राम ने शबरीजी से यह कहा कि मेरे भक्त का यह लक्षण है कि–

आठवँ जथालाभ संतोषा। ३/३५/४

प्रारब्ध के द्वारा जो भी उसको लाभ हो जाए, जो अर्थ प्राप्त हो जाए, उसी में वह निरन्तर सन्तुष्ट रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि लाभ की भी जीवन में अपेक्षा है और जिन श्रेष्ठतम, भक्त पात्रों के जीवन में विवाह का वर्णन रामचरितमानस में किया गया, उसका तात्पर्य यह है कि वहाँ काम की भी अपेक्षा है, लेकिन फिर वही मूल प्रश्न आता है कि वे निन्यत्रण में रहते हैं कि नहीं? वे अनियन्त्रित होकर, सीमा से बाहर जाकर वह रूप तो नहीं ग्रहण कर लेते जो मन्थरा ने आगे चलकर कैकेयीजी के जीवन में ला दिया। मन्थरा से कैकेयीजी जब प्रभावित हुई तो कहा कि मन्थरा! आज तक मैंने तुमको पैरों में रखा। लोभ का स्थान पैरों में है, सेवा में है। लोभ को सेवक होना चाहिए। सेवक का कार्य मालिक को सुख पहुँचाना है। इसी प्रकार से लोभ और अर्थ का क्या कार्य है? कि यह वस्तु हमें सुख पहुँचाए। अतः अर्थ और लोभ हमारी सेवा करके यदि हमें सुख पहुँचाए, तब तक उनकी सार्थकता है, परन्तु यदि लोभ हमारी ही सेवा लेने लगे और हमें दुःख पहुँचाने लगे, तब तो बात उल्टी हो गई, जो सेवक था स्वामी बन बैठा और जो स्वामी था, वह सेवक हो गया। हमारे जीवन में जब लोभ का अतिरेक होता है तो वह स्वामी भी बन जाता है और हमें नचाने लगता है। गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका में कहा है कि–

लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा-डोरि। वि.प. १५८/५

जैसे रस्सी से बन्दर नचानेवाला बन्दर को नचाता है, उसी प्रकार यह लोभ तो मदारी है और आशा की रस्सी में बाँध करके लोभी को नचा रहा है। यदि वह बेचारा लोभ के वशीभूत होकर के दिन-रात नाचने ही लगे तो–

नाचत ही निसि-दिवस मर्‌यो। वि.प. ९१

ऐसी स्थिति में उस बेचारे की दशा वही होगी, जो बन्दर की होती है। मदारी बन्दर को नचाने के बाद झुकना सिखा देते हैं और तमाशा देखने वाला थोड़ा बहुत जो पुरस्कार दे देते हैं, बन्दर तो यही जान पाता है कि इसी तरह से लोगों को प्रसन्न करके कुछ-न-कुछ मुद्रा प्राप्त करनी है, उसमें मदारी तो अधिक ले लेगा, पर थोड़ा बन्दर को भी मिल जाएगा, लेकिन बन्दर इतना अभ्यस्त हो चुका है कि वह मदारी के संकेत पर नाचने में संकोच का अनुभव नहीं करता। लोभ का अतिरेक यही है और यही स्थिति अयोध्या में आ गई। मन्थरा सेविका थी, जो कैकेयीजी को सुख पहुँचाती थी, सेवा करती थी, तब तक लोभ की भूमिका बिल्कुल ठीक थी और सेवक के रूप में लोभ का जीवन में रहना कोई घातक नहीं है। लेकिन अब कैकेयीजी मन्थरा से इतनी प्रभावित हो गईं कि उन्होंने कहा कि मन्थरा! अब मैं तुमको चरणों में स्थान नहीं दूँगी। कौन-सा पद मिलने वाला है मुझे? कहा कि–

करौं तोहि चख पूतरि आली। २/२२/३

मन्थरा! तुम तो आँखों में बैठाने योग्य हो, मैं तो तुम्हें आँख की पुतली बना लूँगी। याद रखिए कि लोभ को आँखों में मत बैठाइए, क्योंकि आँखों में जो बैठा होगा, हमको उसी रंग की दुनिया दिखाई देगी। जैसा चश्मा होगा, वैसी दुनिया दिखेगी। हमारे पास यदि किसी की उधार दी हुई दृष्टि होगी तो वह जैसा बताएगा, हमें वैसा दिखाई देगा। दृष्टि कौन-सी होनी चाहिए–

ग्यान बिराग नयन उरगारी। ७/११९/१४

ज्ञान और वैराग्य ये ही दोनों दो नेत्र हैं। जब हम ज्ञान की दृष्टि से और वैराग्य की दृष्टि से संसार को देखेंगे तो संसार हमें कुछ और दिखाई देगा और जब हम लोभ को आँखों में बैठाकर लोभ की दृष्टि से संसार को देखेंगे तो लोभ की पूर्ति को छोड़कर हमारे जीवन का कोई

उद्देश्य ही नहीं रह जाएगा। मन्थरा बड़ी प्रसन्नता से शृंगार करके आती है कि देखें कैकेयीजी ने वचन दिया था, अब श्रीभरत प्रसन्न होकर मुझे क्या देते हैं? अपने को सुन्दर ढंग से सजाया कि मैं भविष्य के राजा के पास जा रही हूँ, इसलिए कम से कम सुसज्जित वेश-भूषा में जाना चाहिए। गोस्वामीजी ने व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा–

तोहि अवसर कुबरी तहँ आई।
बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥ २/१६२/२

खूब गहने और कपड़े पहनकर शृंगार करके आई। पहले से योजना बन रही है, किन्तु जब भरत-शत्रुघ्न ने मन्थरा को देखा तो श्रीभरत तो समाचार सुन करके इतने उद्विग्न हो गए थे कि वे तो कुछ क्षणों के लिए मूर्च्छित हो गए। कैकेयीजी की भूमिका वही है जो एक अहंकारी की होती है कि अच्छा हुआ तो मैंने किया और यदि बुरा हो गया तो ईश्वर ने किया। कैकेयीजी ने कहा कि–

तात बात मैं सकल सँवारी। २/१५९/१

लेकिन–

कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। २/१५९/२

ब्रह्मा ने कुछ काम बीच में ही बिगाड़ दिया। अर्थात् काम बनाया मैंने और बिगाड़ा ब्रह्मा ने। जब भरतजी ने सुना तो–

सुनत भरतु भए बिबस बिषादा। २/१५९/३
भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥ २/१६०

भरतजी के मुँह से शब्द नहीं निकलता है, वे मौन हो गए, स्तब्ध हो गए, आश्चर्य से कैकेयीजी के मुख की ओर देखते हैं कि यह क्या हो गया है इनको? भरत को सबसे बड़ा आश्चर्य यह हुआ कि इतने बड़े अनर्थ के हो जाने के बाद भी इनको अभी यह भान नहीं है कि मैंने कितना बड़ा अनर्थ कर दिया? कभी-कभी व्यक्ति से भूल हो जाती है, परन्तु बाद में उसका पश्चात्ताप होता है।

भरतजी को आश्चर्य यह हुआ कि पिताजी के स्वर्गवास और श्रीराम के वनगमन के पश्चात् अब इनको तीव्रतम पश्चात्ताप तो आना चाहिए कि कितना बड़ा अनर्थ मैंने कर दिया! अयोध्या अनाथ हो गई, महाराज श्रीदशरथ ने मेरे वरदान के नाम पर अपने प्राण त्याग दिए! कितना

विचित्र व्यंग्य है? कैकेयीजी ने ये दो वरदान किस नाते से पाए हैं? देवासुर संग्राम में दशरथजी के रथ के पहिये की कील निकल जाने के कारण अपनी अँगुलियाँ लगाकर दशरथजी को गिरकर घायल होने से बचाने के पुरस्कारस्वरूप ये दो वरदान माँगे गए, अतः उनके कारण ही दशरथजी के प्राण चले गये। घायल होने से तो बचाए और प्राण लेने में संकोच न करे! इनमें कौन-सी प्रीति और कौन-सी भावना रह गई? महाराज श्रीदशरथ ने तो कैकेयी के चरणों में अपना सिर रख दिया और यह कहा कि अगर आप भरत के लिए राज्य चाहती हैं तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मेरे लिए तो राम और भरत मेरी दो आँखें हैं–

मोरें भरतु रामु दुइ आँखी। २/३०/६

यह सूर्यवंश की परम्परा है और तुम भी मुझसे यही अनुरोध किया करती थीं, इसलिए मैंने राम को सिंहासन पर बैठाने का निर्णय किया था। लेकिन यदि तुम भरत को राज्य देना चाहती हो तो इसमें मुझे रंचमात्र भी आपत्ति नहीं है। राम भी सुनकर प्रसन्न हो जाएँगे कि भरत को राज्य मिल रहा है, पर यदि आप राम को वनवास देने पर दृढ़ रहीं तो मैं अपना प्राण दे दूँगा। दशरथजी को पूर्ण विश्वास था कि यह सुनकर कैकेयीजी डर जाएँगी, क्योंकि वे तो युद्धक्षेत्र में मेरे प्राण बचाने वाली हैं और तुरन्त कह देंगी कि तब तो मुझे यह वरदान नहीं चाहिए। स्त्रियों के मन में तो पति के जीवन के प्रति बड़ी ही तीव्र प्रीति होती है, इसलिए कैकेयीजी यह कैसे कल्पना कर सकती हैं कि मेरी मृत्यु हो जाए? इसलिए मेरा यह वाक्य सुनकर के अवश्य ही कैकेयीजी अपना शब्द वापस ले लेंगी, लेकिन हुआ क्या? इसका उत्तर कैकेयीजी ने इतना कठोर दिया कि जिसकी कल्पना भी कोई नहीं कर सकता।

गोस्वामीजी ने एक बड़े सांकेतिक शब्द का प्रयोग किया है कि लोभ कफ है। जब लोभ साधारण रहेगा तो व्यक्ति को कर्म करने की प्रेरणा मिलेगी, परन्तु जब लोभ कफ की तरह छाती को जकड़ ले अर्थात् लोभी व्यक्ति का हृदय इतना निर्दय हो जाए, कठोर हो जाए और जब कफ जकड़ लेता है तो पिघलता नहीं है अर्थात् व्यक्ति पिघले नहीं और उसको केवल अपने स्वार्थ की ही चिन्ता रह जाए। उसी प्रकार आज कैकेयीजी का हृदय सचमुच इस प्रकार लोभ से जकड़ गया है, इतना कठोर हो गया है कि जो दशरथजी से इतना प्रेम करती थीं, वे ही आज मृत्यु की बात

सुनकर भी विचलित नहीं हुई और उन्होंने जो उत्तर दिया, वह इतनी निर्दयता से भरा हुआ है कि निर्दयता की पराकाष्ठा हो गई। कैकेयीजी ने कहा कि मौत तो दो में से एक की होगी ही, चाहे आपकी होगी, चाहे मेरी होगी, क्योंकि मेरा निश्चय है कि–

होत प्रातु मुनिबेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं॥ २/३३

दशरथजी कहते हैं कि अगर राम वन जाएँगे तो मैं प्राण दे दूँगा और कैकेयीजी कहती हैं कि यदि राम वन नहीं जाएँगे तो मैं प्राण दे दूँगी। जब दोनों में से एक का प्राण जाना ही है तो दशरथ ने मानो पूछा कि महारानीजी आप क्या चाहती हैं कि किसका प्राण जाए? कैकेयीजी ने सीधे शब्दों में वह नहीं कहा, लेकिन उसका अर्थ कितना भीषण है? जरा इसको सोचिए। कैकेयी ने कहा कि मेरे मरने में एक कठिनाई है, दोनों में एक की मौत तो अवश्यम्भावी है, परन्तु मेरे मरने से आप जानते हैं क्या होगा?–

मोर मरनु राउर अजस।

आपका अपयश होगा। अर्थ यह है कि यदि आप प्राण दे देंगे तो कम-से-कम आपको यश तो मिलेगा कि इन्होंने सत्य के लिए इतना बड़ा त्याग किया। इसलिए मैं यह नहीं चाहती कि आपकी कीर्ति नष्ट हो जाए, शरीर भले ही नष्ट हो जाए। जब कोई व्यक्ति दूसरे का नाम अमर बनाने के लिए उसके प्राणों का बलिदान करना चाहे तो उसकी क्रूरता के लिए क्या कहा जाए? बलिदान यदि अपना किया जाए, तब तो बलिदान सार्थक हो सकता है। कैकेयीजी कहती हैं कि महाराज! जरा सोचिए! आपकी बुद्धि को क्या हो गया है–

मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं। २/३३

कैकेयीजी कहती हैं कि जरा समझ तो लीजिए। आप नहीं समझ रहे हैं कि कितनी बड़ी भूल आपसे होने जा रही है? इसका अर्थ है कि महाराज श्रीदशरथ के प्राण छोड़ देने की धमकी भी कैकेयी के हृदय की निष्ठुरता को दूर करने में समर्थ नहीं हुई और सचमुच उनकी मृत्यु हो जाने के पश्चात् भी उनके अन्तःकरण में पश्चात्ताप का उदय नहीं हुआ तो इसका अर्थ है कि लोभ का कफ जो छाती में जकड़ गया है, वह सचमुच ऐसा जकड़ गया है कि स्वयं अपनी करनी से अपने को विधवा

बनाकर भी प्रसन्न हैं तथा पश्चात्ताप नहीं है।

अभिप्राय यह है कि यदि लोभ में अपने लाभ तक की ही बात अपने मन में रहे तो यह स्वाभाविक है। यदि मन्थरा को यह समाचार दिया जाता कि कल तुमको देश निकाला दिया जाएगा या प्राणदण्ड दिया जाएगा और उसको सुनकर यदि मन्थरा दुःखी होती तो सचमुच वह बेचारी कहाँ जाती? और उसका दुःख स्वाभाविक होता, परन्तु मन्थरा को तो यह समाचार मिला था कि कल राम को राजतिलक होने वाला है और यह सुनकर उसका हृदय दुःख की ज्वाला से जलने लगा। इसका क्या अर्थ हुआ? अपनी हानि की चिन्ता से अगर किसी व्यक्ति को दुःख हो तो स्वाभाविक है, लेकिन अपनी कोई हानि न हो, केवल दूसरे का लाभ होने की बात सुनकर यदि हमारा हृदय जलने लगे तो समझ लेना चाहिए कि मन्थरा पूरी तरह से हमारे जीवन में आ गई है। कैकेयीजी चाहती हैं कि भले पति की मृत्यु हो जाए! राम वन चले जाएँ! लेकिन मेरे बेटे को राज्य मिले। कितनी कठोरता कैकेयी के मन में आ गई है और लोभ का कितना प्रभाव उनके मन पर पड़ा है? कैकेयी के मन में कोई ग्लानि नहीं है, यह भरतजी आश्चर्य से देख रहे हैं। शत्रुघ्नजी भी सब समाचार पा चुके थे। तब गोस्वामीजी ने लिखा कि–

लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई।
बरत अनल घृत आहुति पाई॥ २/१६२/३

शत्रुघ्नजी का नाम बहुत बढ़िया चुना **लखन लघु भाई** अर्थात् जो काम आज तक लक्ष्मणजी करते रहे, वह काम आज उनके छोटे भाई कर रहे हैं, क्योंकि लक्ष्मणजी तो वहाँ हैं नहीं। शत्रुघ्नजी ने उसके कूबड़ पर प्रहार किया, जो बड़ी सांकेतिक भाषा है–

कूबर टूटेउ फूट कपारू। २/१६२/५

शत्रुघ्नजी के प्रहार से उसका कूबड़ टूट गया और उसका सिर फूट गया। आध्यात्मिक अर्थों में इसका क्या अर्थ है? कूबड़ किसका प्रतीक है? शरीर सामने से तो टेढ़ा नहीं दिखाई दे रहा है, पर कूबड़ निकल आया है तो पीछे टेढ़ा है। इसी प्रकार से कई लोग सामने से बड़े सीधे दिखाई पड़ते हैं, पर पीछे से बड़े टेढ़े होते हैं। कुटिलता ही कुबड़ी है। शत्रुघ्न के प्रहार का अभिप्राय है कुटिलता पर प्रहार। जितना अनर्थ हुआ, उसके पीछे कुटिलता की वृत्ति है और सिर है बुद्धि, अगर तुम्हारी बुद्धि में ऐसी

योजना न आती तो यह सब अनर्थ न होता। प्रहार का अर्थ है, कुटिलता को दण्डित करने की चेष्टा और बुद्धि पर प्रहार, यह शत्रुघ्नजी की भूमिका थी।

विचार कर देखिए, यह थोड़ा गम्भीर और विस्तृत प्रसंग है, परन्तु एक सूत्र आपको दे रहा हूँ। ये चारों भाई हैं, इनको गोस्वामीजी ने अनेक रूपों में लिखा है। भगवान् चार रूपों में आते हैं। विवाह प्रसंग में चारों भाई चार फल बताए गए—

मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाए महिपाल मनि क्रियन्ह सहित फल चारि॥ १/३२५

महाराज दशरथ ने मानो चारों क्रियाओं के साथ चारों फलों को प्राप्त कर लिया। चार फल हैं—मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम। इन्हीं चारों को पाने के लिए व्यक्ति कर्म करता रहता है। इन चारों के अलावा किसी पाँचवें फल को पाने की इच्छा मनुष्य के मन में नहीं हो सकती है। चारों भाई ही चारों फल हैं। रामराज्य का अर्थ यह नहीं है कि उसमें केवल मोक्ष और धर्म ही है, अर्थ और काम नहीं है। ऐसी कोई बात नहीं है। क्रम यह है, श्रीराम मोक्ष हैं, भरत धर्म हैं, लक्ष्मणजी काम हैं और शत्रुघ्नजी अर्थ हैं। जीवन में चारों की आवश्यकता है, हमें जीवन में इन चारों को प्राप्त करना है। सबसे बड़े श्रीराम हैं, सबसे बड़ा और जीवन का अन्तिम फल है मोक्ष, उनसे छोटे भरत जो धर्म हैं, श्री लक्ष्मणजी काम हैं और सबसे छोटे शत्रुघ्नजी हैं, जो अर्थ हैं। अर्थ में केवल संग्रह की वृत्ति है, काम में भोग की वृत्ति है, धर्म में त्याग की वृत्ति है और मोक्ष इन तीनों वृत्तियों से ऊपर उठा हुआ है। धीरे-धीरे मनुष्य को इन चारों का सामञ्जस्य जीवन में करना चाहिए।

सबसे बड़ा भाई मोक्ष और सबसे छोटा भाई अर्थ है। शत्रुघ्नजी छोटे भाई बनकर भरतजी के पीछे-पीछे चलते हैं, अर्थात् अर्थ जो है वह धर्म की सेवा करे, अर्थ और धर्म मिल करके मोक्ष की सेवा करें। मानस में काम के दो रूप हैं। एक मेघनाद और दूसरे लक्ष्मणजी हैं। इसका अर्थ है, लंका में भी काम है मेघनाद और अयोध्या में भी काम हैं, लक्ष्मणजी महाराज। लक्ष्मणजी ने ही मेघनाद को क्यों मारा? काम के द्वारा ही काम पर प्रहार क्या है?

अयोध्या के काम को बचाना है और लंका के काम को मिटाना है। उसी प्रकार से शत्रुघ्नजी द्वारा जो मन्थरा पर प्रहार है, यह अर्थ ने

लोभ के ऊपर प्रहार किया, यह सांकेतिक और गहरी भाषा है। इसका अर्थ है कि लगता तो यह है कि अर्थ और लोभ का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। जहाँ अर्थ होगा, वहाँ लोभ होगा, पर शत्रुघ्नजी द्वारा प्रहार करने का अर्थ है कि नहीं भई! अर्थ के बिना तो समाज का कोई कार्य नहीं चलेगा, परन्तु उस अर्थ की विशेषता यह होनी चाहिए कि वह सीमा में नियन्त्रित रहे और धर्म की सेवा करे और जब लोभ अतिरेक के द्वारा अमंगल की सृष्टि करे और दूसरों को दुःख पहुँचाने में संकोच न करे तो अर्थरूपी शत्रुघ्नजी द्वारा लोभरूपी मन्थरा पर प्रहार हो और कामरूपी लक्ष्मणजी द्वारा अनियन्त्रित वासनारूपी शूर्पणखा पर प्रहार हो।

शूर्पणखा में भी तो कामवासना है, परन्तु ऐसी कामवासना है, जो सीताजी को खाने पर तुल गई। मन्थरा की लोभवृत्ति कैकयीजी को भड़का करके राम को कष्ट देने और महाराज श्रीदशरथ की मृत्यु का कारण बनी, ये जो संकेत हैं, ये जो अनर्थ की सृष्टियाँ हैं, उसके फलसवरूप अर्थ में लोभ की पराकाष्ठा इस सीमा तक पहुँच जाती है कि वह अर्थ, अर्थ न रह करके अनर्थ बन जाता है। तब शत्रुघ्नजी ने उस पर प्रहार करके मानो उसको सन्तुलित बनाने की चेष्टा की।

इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि क्रिया के साथ जब लोभ की अतिरेकभरी वृत्ति मन्थरा आती है, तब अनर्थ होता है, लेकिन यह अतिरेकभरी वृत्ति मन्थरा भी सफल इसलिए हुई कि कैकेयीजी के चरित्र में अहंकार की दुर्बलता बनी हुई है। यह अहंकार की कमजोरी यदि उनमें न होती, यदि अपने कर्तृत्व की या सात्त्विक अहंकार की वृत्ति न होती तो मन्थरा उनको बदलने में सफल न होती। इसलिए यह कह सकते हैं कि जब तक मनुष्य को कर्तृत्व के अहंकार पर विजय नहीं मिल जाती जब तक वह लोभ के अतिरेक पर नियन्त्रण नहीं कर लेता और जब तक वह आसक्ति को नहीं जीत लेता, तब तक उसके द्वारा जो क्रिया होगी, वह अनर्थ की सृष्टि करेगी, रामराज्य होने में बाधक बनेगी, लेकिन क्रिया के ये तीनों दोष कैसे आते हैं और कैसे मिटाए जाते हैं? इसकी चर्चा हम अगले प्रवचन में करेंगे।

□□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

पंचम प्रवचन

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ २/६१
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८

आइए! अब कुछ समय के लिए एकाग्र और शान्तचित्त से महारानी कैकेयी के चरित्र में जो बड़ा ही विचित्र विरोधाभास है और जिसके कारण एक ओर मानस में उनकी भर्त्सना और निन्दा की गई तथा दूसरी ओर उनकी वन्दना की गई, उन दोनों पक्षों पर एक दृष्टि डालने की चेष्टा की जाए।

घटनाक्रम की दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं कैकेयीजी तो अत्यन्त गरिमामयी हैं, बड़ी उदार हैं, स्नेहशील हैं, किन्तु मन्थरा ने उन्हें परिवर्तित कर दिया। जैसा कि पिछले प्रवचन में आपके समक्ष प्रसंग रखा जा रहा था कि मन्थरा यदि कैकेयीजी को बदलने में सफल हुई और मन्थरा अपने मन के रोग, अपने अन्तःकरण की बुराइयों को यदि कैकेयीजी में आरोपित करने में सफल हो गई तो इसमें मन्थरा की चतुराई तो है ही, लेकिन कहीं-न-कहीं कैकेयी अम्बा के चरित्र में भी कुछ ऐसे सूक्ष्म कारण रहे होंगे कि जिनके कारण उनके अन्तःकरण पर मन्थरा का इतना तीव्र प्रभाव पड़ गया। इस दृष्टि से यदि विचार करके देखें तो इसके कई मनोवैज्ञानिक कारण हैं और मन्थरा और कैकेयी के संवाद में उसको बड़ी ही सांकेतिक भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

कैकेयीजी के अन्तःकरण की एक समस्या यह है कि उनमें अपने पिता के सात्त्विक अहंकार का तीव्र संस्कार विद्यमान है। अहंकारी व्यक्ति में सम्मान

की बड़ी भूख होती है। कैकेयीजी के चरित्र की भी यह दुर्बलता है कि उनमें सम्मान की बड़ी ही तीव्र आकांक्षा है और मन्थरा अत्यन्त निकट होने के कारण इस छिपी हुई तीव्र आकांक्षा से भली-भाँति परिचित है। इसको एक रूप में और स्पष्ट कर दें कि वैसे तो कैकेयी और मन्थरा का संवाद जब प्रारम्भ होता है तो ऐसा लगता है कि कैकेयीजी के मन में श्रीराम के प्रति बड़ा प्रेम है और अपने पुत्र भरत की अपेक्षा भी वे श्रीराम को अधिक चाहती हैं, लेकिन कैकेयीजी के इस प्रेम की मूल भित्ति पर हम विचार करें! मकान जितना अधिक ऊँचा होगा, उसकी नींव भी उतनी अधिक गहरी और दृढ़ होनी चाहिए, मकान तो बहुत ऊँचा हो पर उसकी नींव उतनी दृढ़ न हो तो उस घर के ढह जाने की आशंका रहेगी, जब भी घोर वर्षा होगी और तूफान आएगा, ऐसे भवन के ढह जाने में देर नहीं लगेगी।

घर का ऊपरी भाग तो सबको दिखाई देता है, परन्तु नींव नहीं दिखाई देती, क्योंकि भूमि के भीतर होती है। उसी तरह से व्यक्ति के चरित्र के भी दो भाग हैं, एक तो वह भाग है, जो दिखाई देता है, ऊँचाई दिखाई देती है, परन्तु जितनी ऊँचाई हो, उतनी ही गहराई भी सुदृढ़ होनी चाहिए। कई लोगों के चरित्र में ऊँचाई तो बहुत होती है, पर गहराई नहीं होती। ऐसे चरित्र में साधारणतया बड़े अच्छे गुण दिखाई पड़ते हैं, लेकिन जब सचमुच कोई समस्या आती है तो ऐसा चरित्र ढह जाता है और देखने वालों को बड़ा आश्चर्य होता है कि अरे! इतने महान् चरित्र वाला इतना नीचे कैसे गिर गया? निश्चय ही उसकी नींव में कोई दुर्बलता रही होगी। कैकेयीजी के चरित्र का जो विशाल भवन है, उसकी नींव उतनी गहरी नहीं थी। कैकेयीजी राम को जो इतना चाहती हैं, उसका कारण क्या है? यह मुख्य बात है। यहीं पर दोनों माताओं के चरित्र का अन्तर दिखाई देता है और इसी दुर्बलता को मन्थरा पकड़ लेती है। जब मन्थरा आँसू बहाती हुई कैकेयीजी से कहती है कि–

रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू।
जेहि जनेसु देइ जुबराजू॥ २/१३/२

और इसकी पहली प्रतिक्रिया बड़ी ऊँचाई से परिपूर्ण थी, जब कैकेयीजी ने मन्थरा से कहा था कि–

राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली।
देउँ मागु मन भावत आली॥ २/१४/४

कैकेयीजी के इस वचन को सुनकर तो मन्थरा को निराश हो जाना चाहिए था। कैकेयीजी ने केवल इतना ही नहीं कहा, बल्कि जब मन्थरा ने झगड़ा लगाने वाली बात कही तो कैकेयीजी को इतना क्रोध आया, कि वे मन्थरा पर रुष्ट हो गई तथा उसको धमकी दे दी, पहले लोभ दिया था, अब क्रोध–

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी।
तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥ २/१३/८

पर मन्थरा भी बड़ा विचित्र व्यक्तित्व है। जो चाहो सो माँग लो कहकर इतना बड़ा लोभ दिया, पर लगता है कि मन्थरा के चरित्र में लोभ नहीं है। कभी-कभी सन्तचरित्र बड़ा विचित्र होता है। रामायण के अन्त में गोस्वामीजी ने कहा, कि कथा समाप्त करने के पश्चात् काकभुशुण्डिजी से गरुड़जी ने सात प्रश्न किए, अगर गिनें तो वे सात नहीं, आठ प्रश्न लगते हैं। इसे सात मानें कि आठ मानें? एक क्षण के लिए मान लें कि गरुड़जी से गिनती में भूल हो गई, काकभुशुण्डिजी ने मुस्कराकर कहा कि आपने बहुत बढ़िया बात कही है और जितने प्रश्न आपने पूछे हैं, उनके उत्तर तो अलग-अलग हैं, लेकिन आपका एक प्रश्न ऐसा है जो दो प्रश्नों जैसा लग रहा है, गहराई से देखें तो वे दो नहीं हो करके एक ही है। आपने सन्त और असन्त का लक्षण पूछा तो लगता तो यह है कि दोनों के अलग-अलग लक्षण हैं, लेकिन विचित्रता यह है कि सन्त और असन्त दोनों के लक्षण एक ही वाक्य के द्वारा किए जा सकते हैं।

पाप की परिभाषा अलग है, पुण्य की परिभाषा अलग है, परन्तु काकभुशुण्डिजी ने कहा कि सन्त और असन्त की परिभाषा बिल्कुल एक है। सचमुच रामायण में सबसे बड़े सन्त श्रीभरत और रामायण की सबसे बड़ी असन्त मन्थरा है। सारी अयोध्या की वृत्ति को पलट देने वाली मन्थरा सचमुच असन्तत्व की पराकाष्ठा है, लेकिन भुशुण्डिजी ने कहा कि सन्त और असन्त की व्याख्या बिल्कुल एक है। संसार के सब लोग सुख के प्रेमी हैं, लेकिन सन्त और असन्त दोनों के मन में सुख के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। दोनों अपने जीवन में सुख का परित्याग करके दुःख को स्वीकार करते हैं। परन्तु दोनों में भेद यह है कि दोनों का उद्देश्य अलग-अलग है, बस यही अन्तर है। उद्देश्य को छोड़कर दोनों में कई बातें बिल्कुल मिलती-जुलती हैं—उद्देश्य में क्या अन्तर है? तो कहा कि–

संत सहहिं दुख परहित लागी।
परदुख हेतु असंत अभागी॥ ७/१२०/१५

सन्त का यह स्वभाव है कि दूसरों का दुःख दूर करने के लिए वह दुःख लेने में आनन्द का अनुभव करता है और जो दूसरों को कष्ट पहुँचाने के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग कर दे और बड़े से बड़ा दुःख उठाने में संकोच न करे, वही असन्त है। इस दृष्टि से विचार करके देखें तो सचमुच श्रीभरत में रंचमात्र भी लोभ की वृत्ति नहीं है और बड़ी विचित्र विडम्बना है कि दिखाई यह देता है कि मन्थरा में भी रंचमात्र लोभ नहीं है, क्योंकि वह मुँहमाँगा इनाम पाने का आश्वासन भी अनसुना कर देती है। है तो वह लोभ की पराकाष्ठा, परन्तु वह यह मानती है कि वस्तुतः दूसरे को कष्ट पहुँचाने में जितना आनन्द है, उतना आनन्द किसी बड़े से बड़े पुरस्कार में नहीं है। इसलिए गोस्वामीजी ने व्यंग्यात्मक भाषा में भरतजी के लिए कहा कि भरतजी को दिन में भोजन अच्छा नहीं लगता और रात को नींद नहीं आती–

निसि न नींद नहिं भूख दिन भरतु बिकल सुचि सोच।
नीच कीच बिच मगन जस मीनहि सलिल सँकोच॥ २/२५२

और मन्थरा को भी दिन में भोजन अच्छा नहीं लगता और रात को नींद नहीं आती, लेकिन उद्देश्य अलग-अलग हैं। भरत को नींद इसलिए नहीं आती कि रामराज्य कैसे बने? और मन्थरा स्वयं कैकेयीजी से कहती है कि–

जब तें कुमत सुना मैं स्वामिनि।
भूख न बासर नींद न जामिनि॥ २/२०/६

दिन में मुझे भूख नहीं लगती और रात में नींद नहीं आती कि यह रामराज्य कैसे बिगड़े? रामराज्य जो होने वाला है, उसको कैसे मिटाया जाए? मन्थरा के जीवन में असन्तत्व का ऐसा दृढ़ व्रत है कि इतने बड़े प्रलोभन को भी ठुकरा दिया। सुख पाने की एक वृत्ति तो यह है कि दूसरों को आनन्द देकर हम आनन्द प्राप्त करें और दूसरी वृत्ति यह है कि हम दूसरों को कष्ट पहुँचाकर आनन्द का अनुभव करें। मन्थरा में लोभ का विकृत रूप है। लोभ का एक तो कल्याणकारी रूप है, अपने लाभ में आनन्द की अनुभूति का होना, यह लोभ समाज के लिए घातक नहीं है, परन्तु जब अपने लाभ की अपेक्षा दूसरे की हानि में अधिक आनन्द और लाभ का अनुभव हो तो यह समाज के लिए घातक है, अकल्याणकारी

है। गोस्वामीजी ने असन्तों का वर्णन करते हुए कहा कि असन्त तो ऐसे होते हैं कि उनको राज्य नहीं चाहिए, उनको तो एक ही राज्य चाहिए, कौन-सा?–

जब काहू कै देखहिं बिपती।
सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥ ७/३९/३

यदि देख लें कि किसी पर विपत्ति पड़ गई है तो बस राज्य मुझे मिल गया। यही मन्थरा का उद्देश्य है कि रामराज्य के लिए सब लोग उत्सुक हो रहे हैं, उसको मैं कैसे टालूँ? मन्थरा इतने बड़े लोभ से आकृष्ट नहीं हुई और जब कैकेयीजी ने कहा कि मैं जीभ कटवा लूँगी, तब मन्थरा को डर जाना चाहिए था और माफी माँग लेनी चाहिए थी कि आगे मैं ऐसी भूल नहीं करूँगी, लेकिन आश्चर्य है कि सन्त जैसे जल्दी विचलित नहीं होता, असन्त मन्थरा भी इतनी शीघ्रता से हार मानने वाली नहीं थी। अन्त में मन्थरा की धारणा ही सत्य सिद्ध हुई।

मन्थरा ने सोचा कि ऊँचाई तो बहुत दिखाई दे रही है, परन्तु निचाई को मैं जानती हूँ, उस निचाई को खोदकर मैं निकाल दूँगी और बता दूँगी कि आपकी ऊँचाई का आधार कुछ और है। यह तो स्वाभाविक बात है कि प्रत्येक माँ अपने पुत्र से अधिक प्यार करती है, इसलिए यदि कैकेयी अपने एकमात्र पुत्र भरत को सिंहासन पर बैठा देखना चाहें तो यह माता के स्वभाव के बिल्कुल अनुकूल होगा। अक्सर देखा तो यह जाता है कि सौत-सौत में परस्पर बड़ा विद्वेष होता है और राम तो आपकी सौत के पुत्र हैं, परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि आप राम के राज्याभिषेक के समाचार से इतनी खुश क्यों हैं? बस, उस नींव में जो दुर्बलता थी, वह सामने आ गई। भक्तिशास्त्र की दृष्टि से इसका बड़ा सांकेतिक महत्त्व है। नारद भक्तिसूत्र में, श्रीमद्भागवत में और रामचरितमानस में भी इसका संकेत किया गया है।

सुमित्राजी और कैकेयीजी दोनों श्रीराम से प्रेम करती हैं, उन दोनों में क्या अन्तर है? यह अन्तर तो दिखाई दे रहा है कि कैकेयीजी पहले तो श्रीराम से बड़ा प्रेम करती हैं, परन्तु बाद में वे श्रीराम के विरुद्ध हो गईं और सुमित्राजी के चरित्र में यह दिखाई दे रहा है कि प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी राम के प्रति उनका प्रेम बढ़ता ही गया, घटा नहीं। लंका के युद्धक्षेत्र में लक्ष्मण के मृत्यु शय्या पर पड़े रहने का

समाचार सुनकर यदि सुमित्राजी के अन्तःकरण में क्रोध आ जाता और वे यह कहतीं कि मैंने तो अपना पुत्र राम की सेवा में भेज दिया, लेकिन राम कितने स्वार्थी निकले कि अपने स्वार्थ के लिए मेरे पुत्र की मृत्यु करा दी, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। मानवीय स्वभाव की दृष्टि से ऐसी प्रतिक्रिया होनी कोई असम्भव नहीं थी, परन्तु सुमित्राजी के अन्तःकरण पर इतनी बड़ी बात सुनकर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु कैकेयीजी के अन्तःकरण पर उससे कहीं छोटी बात का प्रभाव पड़ गया।

भक्ति का मूल आधार क्या है? देवर्षि नारद ने कहा कि भक्ति का आधार प्रेम है, परन्तु प्रेम का भी एक आधार है और वह है–

सा तुम माहात्म्यज्ञानपूर्वकम्।

पहले भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान हो और फिर प्रेम हो। अभिप्राय यह कि प्रेम उसकी ऊँचाई है और भगवान् का माहात्म्यज्ञान अर्थात भगवान् को भगवान् के रूप में जानना उसका आधार है। मानस में भी जहाँ पर प्रेम में दृढ़ता आने की बात कही गई है, वहाँ पर भी यही क्रम बतलाया गया कि–

जानें बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥ ७/८८/८

इसका अभिप्राय यह है कि प्रेम का आधार यदि ज्ञान नहीं होगा तो प्रेम में दृढ़ता नहीं आएगी। मानस में अनेक पात्रों के चरित्र में यह दिखाई पड़ता है। यही अन्तर है सुमित्रा और कैकेयीजी के प्रेम में। सुमित्राजी श्रीराम से प्रेम राम को मनुष्य समझकर नहीं करतीं, उनकी दृष्टि में राम साक्षात् ईश्वर हैं। कैकेयीजी राम को मनुष्य एवं बालक समझकर प्रेम करती हैं। कैकेयी ने मन्थरा से यह नहीं कहा कि, तुम क्या कह रही हो? राम तो साक्षात् ईश्वर हैं। कैकेयीजी राम की प्रशंसा करती हैं और सुमित्रा तो लक्ष्मण को आदेश देती हैं कि वस्तुतः मैं तुम्हारी माँ नहीं हूँ तुम्हारी माँ तो सीताजी हैं, तुम्हारे पिता तो जगत्पिता राम हैं। इस प्रकार सुमित्राजी के अन्तःकरण में माहात्म्यज्ञान है जो भक्ति का आधार है और कैकेयी के प्रेम के मूल में माहात्म्यज्ञान नहीं है। उनके प्रेम की नींव बड़ी दुर्बल है।

मन्थरा ने कैकेयी से जब पूछा कि आप राम से इतना प्रेम क्यों

करती हैं? इसके उत्तर में यदि कैकेयीजी ने यह कहा होता कि मैं इसलिए उनसे प्रेम करती हूँ कि राम तो ईश्वर हैं और ईश्वर होते हुए उन्होंने पुत्र के रूप में जन्म लिया है, संसार के समस्त जीवों को ईश्वर से प्रेम करना चाहिए, तब तो मन्थरा सचमुच हार मान लेती, पर उन्होंने जब राम की विशेषता बताना प्रारम्भ किया, तब मन्थरा मन-ही-मन प्रसन्न हो गई कि कोई बात नहीं है, मैं तो पहले से ही जानती थी कि गहराई में कुछ और बात है। मन्थरा से तुरन्त कैकेयीजी ने कहा कि अरी मन्थरा! तू राम को नहीं जानती कि राम कितने महान् चरित्र वाले हैं, राम में कितना महान् गुण है कि–

कौसल्या सम सब महतारी।
रामहिं सहज सुभायँ पिआरी॥ २/१४/५

राम की विशेषता यह है कि सब माताओं को बराबर चाहते हैं लेकिन–

मो पर करहिं सनेहु बिसेषी।
मैं करि प्रीति परीछा देखी॥ २/१४/६

राम अन्य माताओं की अपेक्षा मुझे अधिक सम्मान देते हैं। वस्तुतः अभिमान के कारण कैकेयीजी को सम्मान की इतनी तीव्र भूख है कि जैसे कोई आपको भोजन करा दे तो आप प्रसन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार अभिमानी व्यक्ति को कोई सम्मान दे तो वह व्यक्ति प्रसन्न हो जाता है, लेकिन जो भोजन करके प्रसन्न होता है, उसको यदि आप कभी भोजन न कराएँ तो वह उतनी ही जल्दी अप्रसन्न भी हो जाता है। उसी तरह प्रशंसा करके जिसको आपने प्रसन्न किया हो और उसके अहंकार को आपने तृप्त किया हो, अगर कभी उसको ऐसा लगे कि यह अब मेरा सम्मान नहीं कर रहा है, मेरे अहम् की भूख को नहीं मिटा रहा है, तब उस व्यक्ति के बदलने में देरी नहीं लगेगी और ऐसा ही कैकेयीजी के चरित्र में हुआ। मन्थरा ऊपर से गम्भीर बनी हुई है, परन्तु भीतर से वह दुर्बलता को देख रही है और उसने पूछा कि राम आपको अधिक चाहते हैं, इसका पता कैसे चला?

अब कैकेयीजी की दूसरी दुर्बलता सामने आ गई, उन्होंने कहा कि मन्थरा! मैंने ऐसे थोड़े ही मान लिया, मेरे मन में भी यह जानने की इच्छा थी कि राम मुझे अधिक चाहते हैं कि अपनी माँ को अधिक चाहते हैं? मैंने परीक्षा लेकर देखा कि मुझे अधिक चाहते हैं और अपनी माँ को कम चाहते हैं। सुनकर मन्थरा प्रसन्न हो गई, क्योंकि मन में सन्देह आया

होगा, तभी तो परीक्षा ली होगी। यह कैकेयीजी के चरित्र में बड़ा विचित्र विरोधाभास है। व्यक्ति को सजग परीक्षक होना चाहिए कि विश्वासी होना चाहिए? व्यक्ति को बुद्धिमान् होना चाहिए कि विश्वासी होना चाहिए? इसका उत्तर यही है कि बुद्धि और विश्वास का उपयोग हम कैसे करते हैं? महत्त्व इस बात का है।

यदि कोई व्यक्ति आँख की दवा खा ले और पेट की दवा आँख में डाल ले तो वह स्वस्थ होने के स्थान पर संकट में पड़ जाएगा। इसी तरह से बुद्धि और विश्वास दोनों ही जीवन में कल्याणकारी और उपयोगी हैं, दोनों की ही जीवन में बड़ी आवश्यकता है, लेकिन बुद्धि और विश्वास में हमें यह निर्णय करना चाहिए कि कहाँ हम बुद्धि का उपयोग करें और कहाँ विश्वास का उपयोग करें? संसार में सबसे अधिक व्यवहार का जो आधार है, वह बुद्धि है। इसीलिए जब गोस्वामीजी से पूछा गया तो उन्होंने यह सूत्र दे दिया कि ईश्वर के सन्दर्भ में हम विश्वास करें और संसार के सन्दर्भ में हम बुद्धि का उपयोग करें। यदि संसार के व्यवहार में हम बुद्धि का उपयोग करेंगे तो पग-पग पर हमारे सामने समस्या आएगी। इसीलिए हमारे यहाँ की मान्यता यह है कि कोई भी कार्य प्रारम्भ करें, उसके प्रारम्भ में गणेशजी की पूजा की जानी चाहिए। गणेशजी बुद्धि और विवेक के देवता हैं।

यह कहा जाता है कि गणेशजी की पूजा किए बिना यदि कोई कार्य किया जाए तो उस कार्य में बाधा आती है, विघ्न आता है, तो यह दो तरह से ठीक है। गणेशजी देवता के रूप में तो पूज्य हैं ही, लेकिन इसका तात्पर्य यह है कि संसार में किसी कार्य के करते समय अगर हम बुद्धि के देवता की आराधना नहीं करेंगे, बुद्धि और विवेक का आश्रय नहीं लेंगे तो स्वाभाविक रूप से पग-पग पर हमारे कार्य में विघ्न आएँगे। गणेशजी की पूजा चन्दन, अक्षत और माला से की ही जानी चाहिए, पर विवेक के रूप में भी, बुद्धि के देवता के रूप में भी उनका सम्मान जीवन में होना चाहिए। संसार के व्यवहार में पग-पग पर बुद्धि की आवश्यकता है, सजग रहने की आवश्यकता है, लेकिन जब ईश्वर का सन्दर्भ आए तो ईश्वर के लिए तो–

मन समेत जेहि जान न बानी।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥ १/३४०/७

ईश्वर से बुद्धि से परे है,–

यो बुद्धेःपरतस्तु सः। (गीता-४/४२)

कहकर इसका परिचय दिया गया है। जहाँ अपनी बुद्धि की सीमा समाप्त हो गई, वहाँ पर हम अपनी बुद्धि का प्रयोग न करके विश्वास का आश्रय लें तो दोनों कल्याणकारी रहेंगे इसलिए गोस्वामीजी से जब पूछा गया कि संसार में कैसे व्यवहार करना चाहिए और भगवान् से कैसे व्यवहार करना चाहिए? तो दोहावली में उन्होंने बताया कि संसार में नीति के द्वारा चलिए और भगवान् से प्रीति कीजिए–

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥ (दोहावली-८६)

संसार में लोगों से व्यवहार करते समय अगर हम केवल विश्वासी बनेंगे तो वह विश्वास बड़ा घातक सिद्ध होगा और इस प्रकार का विश्वास करके लोग किस-किस प्रकार के चक्कर में पड़ करके कितना कष्ट भोग रहे हैं, इसका बहुत दृष्टान्त देने की आवश्यकता नहीं। संसार के व्यवहार में जो प्रतिक्षण बुद्धि का प्रयोग नहीं करेगा, यह संकट में पड़ेगा और भगवान् के सन्दर्भ में जो बुद्धि लगाने की चेष्टा करेगा और विश्वास नहीं करेगा, वह संकट में पड़ेगा। कैकेयीजी ने दोनों के सम्बन्ध में व्यवहार उलट दिया। राम में लगाना चाहिए विश्वास और मन्थरा में लगानी चाहिए बुद्धि, लेकिन उन्होंने आगे चलकर मन्थरा पर कर लिया विश्वास और राम को उन्होंने माना भी तो उनको मानने का आधार विश्वास का आधार नहीं था, परीक्षा का आधार था और परीक्षा तभी ली जाती है, जब कोई सन्देह होता है। जब एक बार सन्देह था तो इस सन्देह को फिर से पैदा किया जा सकता है। परीक्षा में एक बार राम को इन्होंने उत्तीर्ण कर दिया है तो यह जरूरी थोड़े ही है कि हर साल परीक्षा में पास ही होता जाएगा। मैं अभी बता दूँगी कि तुम्हारी धारणा कितनी गलत है।

जहाँ कहीं भी सांसारिक व्यक्ति पर विश्वास किया गया, वहीं पर संकट हुआ और जहाँ भगवान् में अविश्वास हुआ और भगवान् में बुद्धि की बात आई, वहाँ संकट आया। कालनेमि के प्रसंग का संकट, रावण के प्रसंग का संकट, कपटमुनि के प्रसंग का संकट आदि अन्धविश्वासों के द्वारा जो हानि होती है, उसके ये सब प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। हनुमान्‌जी तो संकट में पड़ते-पड़ते बचे, आश्रम देखा, मुनिजी की सुन्दर वेश-भूषा देखी और हनुमान्‌जी एक क्षण के लिए बहक से गए–

मारुतसुत देखा सुभ आश्रम।
मुनिहि बूझि जल पियौं जाइ श्रम॥ ६/५६/२

यह व्यंग्यात्मक भाषा है। प्यास बुझाने के लिए हम किसका आश्रय ले रहे हैं? हनुमान्‌जी का तो एक विलक्षण चरित्र है, उनको तो वहाँ का प्रसंग भी मंगलकारी ही होता है, लेकिन हनुमान्‌जी की प्यास का अभिप्राय क्या है? जब हमें प्यास लगती है तो पता नहीं किस कपट मुनि को हम सच्चा मुनि मान बैठते हैं? प्यास क्या है? सांसारिक कामनाओं की जो प्यास है, यह मिल जाए, वह मिल जाए? यह हो जाए, वह हो जाए! यदि किसी के मन में नोट दूना करने का लोभ न होता तो वह कैसे ठगा जाता? इसका अर्थ है कि अपने मन की कामना के द्वारा जब हम कहीं पर भी बाह्य वस्तु को देख करके विश्वास कर लेते हैं, तभी ठगे जाते हैं। हनुमान्‌जी को तो मगरी ने चरण पकड़कर सावधान कर दिया–

मुनि न होइ यह निसिचर घोरा।
मानहु सत्य बचन कपि मोरा॥ ६/५७/२

हनुमान्‌जी तो भगवान् का कार्य करने जा रहे थे और हनुमान्‌जी की प्यास भी कोई सांसारिक प्यास तो थी नहीं। इसका सांकेतिक उत्तर यह दिया गया है कि हनुमान्‌जी ने जाकर के कालनेमि को प्रणाम किया और यह कहा कि मुझे प्यास लगी हुई है, तो कालनेमि ने अपना जल से भरा कमण्डलु दे दिया। उस कमण्डलु के जल में तो जहर मिला था, कि शराब मिली थी, कि क्या मिला था? यह कुछ नहीं कहा जा सकता। अगर हनुमान्‌जी कहीं वह जल पी लें, तब तो पता नहीं संकट कितना बढ़ जाता? लेकिन हनुमान्‌जी ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया कि जरा मुझे देख लीजिए! कहीं कमण्डलु के जल से हमारी प्यास बुझने वाली है?–

मागा जल तेहिं दीन्ह कमंडल।
कह कपि नहिं अघाउँ थोरें जल॥ ६/५६/७

मैं थोड़े जल से नहीं अघाता। इसका अभिप्राय यह है कि हनुमान्‌जी की प्यास और भूख जो है, वह साधारण थोड़े ही है। जो जन्म लेते ही सूर्य के द्वारा अपनी भूख मिटाने की चेष्टा करे, उसकी भूख और प्यास कैसी होगी? ज्ञान की भूख और भक्ति की प्यास उनके अन्तःकरण में विद्यमान है। कपट मुनि निराश हो गया कि यह तो कमण्डलु का जल पी नही नहीं रहा है। जो कमण्डलु के जल के चक्कर में रहते हैं, वे तो चक्कर

में पड़ ही जाएँगे, लेकिन हनुमानूजी कमण्डलु का जल नहीं पीते? तब निराश होकर उसने सोचा कि और कोई उपाय करेंगे। तब उसने कहा कि जाकर सरोवर में जितना जल पीना हो पी लीजिए।

हनुमानूजी स्नान करके जब सरोवर में जल पी रहे थे, तभी मगरी ने पैर पकड़ लिया और जब हनुमानूजी ने मारना चाहा तो मगरी ने पूछा कि कोई पैर पकड़े तो उसको मारना चाहिए कि आशीर्वाद देना चाहिए? हनुमानूजी ने कहा कि तुम्हारी तरह पैर पकड़े तो उसको मार ही देना चाहिए, क्योंकि तुम्हारा उद्देश्य तो पैर पकड़कर मुझे खा जाने का है, पैर पकड़कर तुम मेरा सम्मान थोड़े ही कर रही हो! मगरी ने कहा कि अगर मेरा पकड़ना खतरनाक है तो उस साधु का वेश भी उतना ही खतरनाक है, आप उससे भी सावधान हो जाइए! जैसे आप मेरे चक्कर में नहीं पड़े और मेरे पैर पकड़ने पर भी आप मेरा वध कर रहे हैं, उसी प्रकार से उसका भी वध करें! मानो भक्ति के सरोवर में हनुमानूजी को भगवान् की कृपा से संकेत मिल गया कि यह अविश्वास है। तब हनुमानूजी आते हैं और उसका वध कर देते हैं–

सिर लंगूर लपेटि पछारा। ६/५७/५

क्षणभर के लिए गलत जगह विश्वास कर लेने की समस्या तो आ ही गई। इसी प्रकार से प्रतापभानु ने कपटमुनि पर विश्वास किया। जनकनन्दिनी श्रीसीताजी ने अपने चरित्र में रावण पर क्षण भर के लिए विश्वास किया। यह विश्वास कितना घातक सिद्ध हुआ, वह दिखलाई देता है। संसार में यदि व्यक्ति व्यवहार में सजग न रहे और चाहे जहाँ कामना के कारण चमक देख करके विश्वास कर ले तो धोखा खाने की सम्भावना है और भगवान् के प्रेम का आधार जब विश्वास होगा तो ठगने की सम्भावना नहीं है।

दक्ष ने ब्रह्मा से पूछा कि मैं अपनी बेटी सती का विवाह किससे करूँ? तो ब्रह्माजी ने कहा कि शंकरजी से कर दो। सतीजी दक्ष या चतुर की बेटी हैं, बुद्धि हैं और शंकरजी मूर्तिमान् विश्वास हैं। ब्रह्माजी की योजना यह थी कि इससे बढ़िया कोई मिलन नहीं होगा कि बुद्धि और विश्वास इन दोनों का सामञ्जस्य हो। शरीर में हृदय का महत्त्व है कि मस्तिष्क का? हृदय और मस्तिष्क दोनों की अपेक्षा शरीर में है, एक के बिना दूसरा अधूरा है, उसी प्रकार बुद्धि के बिना विश्वास अधूरा है और

विश्वास के बिना बुद्धि अधूरी है। इन दोनों की बड़ी आवश्यकता है, यह ज्ञान हो गया, परन्तु यहाँ उल्टी बात हो गई कि सतीजी को जहाँ बुद्धि नहीं लगानी चाहिए थी वहाँ बुद्धि लगा दी और उससे संकट हो गया।

कैकेयीजी ने मन्थरा से कहा कि मैंने राम की परीक्षा लेकर देखा और यही परीक्षा वाली बात सतीजी के चरित्र में भी आई। सतीजी ने कथा में बैठकर भी कथा नहीं सुनी, क्योंकि उनमें यह धर्माभिमान जाग्रत् हो गया कि मैं शंकर की पत्नी, मैं परमपतिव्रता, मुझे किसी की कथा सुनने की क्या आवश्यकता है? इसका अभिप्राय है कि कथा में जाय तो मन, बुद्धि और चित्त को लेकर जाए, पर अहंकार को छोड़कर जाए। धर्म के अहंकार ने और अपनी बुद्धिमत्ता के अहंकार ने सतीजी को कथा से वंचित कर दिया। जब शंकरजी और सतीजी कथा से लौटकर आईं तो मार्ग में विलाप करते हुए भगवान् राम का दर्शन हो गया और दूर से ही शंकरजी ने जय सच्चिदानन्द कहकर प्रणाम किया।

रोने की लीला करते हुए राम को देखकर जब सतीजी को उनकी ईश्वरता में सन्देह हो गया और शंकरजी के बार-बार समझाने पर संशय दूर नहीं हुआ तो झुँझलाकर कह दिया कि तुम जाकर परीक्षा क्यों नहीं ले लेतीं? और सतीजी सचमुच परीक्षा लेने के लिए चल पड़ीं, परन्तु बेचारा जीव ईश्वर की क्या परीक्षा लेगा? पर सतीजी की बुद्धि का अहंकार इतना प्रबल हो गया कि वे परीक्षा लेने के लिए सचमुच गईं, परन्तु यह परीक्षा उनको इतनी महँगी पड़ी कि अन्त में सती के पुनर्जन्म के पश्चात् जब वे पार्वती बनीं, तब कहीं शंकरजी को पुनः प्राप्त कर सकीं।

इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुतः हम बुद्धि का प्रयोग वहीं तक करें, जहाँ तक बुद्धि की सीमा है, परन्तु जो बुद्धि से परे है, वहाँ विश्वास की आवश्यकता है, परन्तु सती वाली भूल कैकेयी ने भी की और राम की परीक्षा लेकर देख लिया कि राम उनसे ज्यादा प्रेम करते हैं। कैसे ईश्वर की परीक्षा ली होगी? परीक्षा की कई पद्धति हो सकती हैं। जैसे कौसल्याजी और कैकेयीजी दोनों एक साथ राम को बुलायें और राम दौड़कर कैकेयीजी की गोद में चले जाएँ तो इससे वे समझ लें कि राम मुझसे अधिक प्रेम करते हैं। इस प्रकार बार-बार कैकेयीजी राम की परीक्षा लेती हैं कि कहीं अपनी माँ की अपेक्षा वे मुझे कम महत्त्व तो नहीं देते? बस यह सम्मान की जो भूख थी, यही कैकेयीजी की दुर्बलता थी। ईश्वर को ईश्वर के रूप में जाने

बिना कैकेयीजी का प्रेम छिछला था।

कैकेयीजी ने मन्थरा को इतना फटकारा, परन्तु फिर भी अगर उन्होंने अयोध्या में किसी पर पूरा विश्वास किया तो मन्थरा पर ही किया। कैकेयीजी की एक और दुर्बलता प्रकट हो गई। कैकेयी ने मन्थरा से कहा कि मैं राम से इतना प्रेम करती हूँ कि मैं ब्रह्माजी से यही वरदान माँगती हूँ कि अगले जन्म में राम मेरा बेटा बने और सीता मेरी बहू बने–

जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू।
होहुँ राम सिय पूत पुतोहू॥ २/१४/७

भावुक श्रोता इस पंक्ति को पढ़कर गद्गद हो जाते हैं कि वाह! कितनी ऊँची भावना है? भावना तो ऊँची है, पर उसकी नींव पर भी तो दृष्टि डालिए। मन्थरा पूछ सकती थी कि अभी-अभी तो आप कह रही थीं कि राम मुझे अपनी माँ से अधिक चाहते हैं। अगले जन्म में आपके बेटे बन गए और दूसरे की माता को यदि आपसे अधिक मानने लगे तो आप घाटे में रहेंगी! फिर आप अगले जन्म में राम मेरे बेटे बनें, यह इच्छा क्यों रखती हैं? कैकेयीजी के मन की छिपी भावना यह थी कि यह तो ठीक है कि राम मुझे बहुत मानते हैं और मैं भी राम को बहुत मानती हूँ लेकिन फिर भी संसार में जब भी कोई राम का परिचय देगा तो कौसल्या का बेटा कहकर ही परिचय देगा, मेरा बेटा कहकर परिचय नहीं देगा। यह मैं और मेरा का ऐसा चक्कर हुआ कि इन दोनों की नींव के आधार पर सद्व्यवहार की कल्पना की कि राम मुझसे सबसे अधिक अच्छा व्यवहार करें।

संसार में भी ऐसा ही होता है और क्रिया की जो प्रवृत्ति है, वह यही है कि आप हमसे बढ़िया व्यवहार करें तो हम भी आपसे बढ़िया व्यवहार करेंगे और आप नहीं करेंगे तो हम भी नहीं करेंगे, लेकिन भगवान् के विषय में क्या है? तभी तो मन्थरा से कह दिया कि देवी! आप बिल्कुल ठीक कहती हैं। पुरानी बात ऐसी ही थी। कैकेयीजी ने कहा कि अब कोई नई बात है क्या? कैकेयी की बड़ी भारी दुर्बलता है कान का कच्चापन। अहंकारी का सबसे प्रिय अंग तो कान ही है। पूछा कि क्या बात है? तो कहा कि–

रहा प्रथम अब ते दिन बीते।
समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते॥ २/१६/६

पुराने दिन बीत गए, अब राम बदल गए। अब तो राम राजा होंगे और फिर इसके बाद–

जौं सुत सहित करहु सेवकाई।
तौ घर रहहु न आन उपाई॥ २/१८/८

सौत की सेवा की बात सुनते ही शरीर थरथराने लगा, क्रोध से काँपने लगा कि अरे! इतना बदलाव आ गया राम में! यदि राम को ईश्वर समझतीं तो समझ लेतीं कि ईश्वर का प्रेम कभी बदलने वाला नहीं है। ईश्वर के व्यवहार को देखकर ईश्वर के ईश्वरत्व पर विश्वास नहीं किया जाता, ईश्वर पर समग्र विश्वास सहज ही होता है। कैकेयी क्रोध में काँपने लगीं और बदला लेने के लिए बेचैन हो गईं। क्यों? यह जो उनकी अहंकार और सम्मान की भूख थी, मैं और मेरे की नींव पर खड़ा हुआ जो राम-प्रेम का महल था, वह टिका नहीं, मन्थरा ने उसको हिलाकर रख दिया–

भानु कमल कुल पोषनिहारा।
बिनु जल जारि करइ सो छारा॥ २/१६/७

और तुरन्त उत्तेजित कर दिया–

जरि तुम्हारि चह सवति उखारी।
रूँधहु करि उपाउ बर बारी॥ २/१६/८

तुम्हारी सौत तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है। आज कैकेयी बड़े ध्यान से कथा सुन रही हैं, कथावाचिका मन्थरा और श्रोता कैकेयी तथा मन्थरा ने सारी कथा पुराणों की ही सुनाई–

कद्रूँ बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब।
भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब॥ २/१९

महल में नित्य कथाएँ होती थीं और सारी रानियाँ कथा में जाती थीं तो क्या मन्थरा नहीं जाती थी? वह भी जाती थी, पर कथा में जाकर भी प्रत्येक श्रोता कथा का अलग-अलग अर्थ लेता है। गुरु वसिष्ठ ने एक दिन कद्रू-विनता की कथा सुनाई। ये दोनों सौत हैं और विनता के पुत्र गरुड़ हैं तथा कद्रू के पुत्र सर्प हैं। एक दिन कद्रू और विनता में विवाद हो गया कि सूर्य के घोड़ों की पूँछ सफेद है कि काली? कद्रू ने कहा कि काली है और विनता ने कहा कि सफेद है। होड़ लग गई कि चलकर देख लें और जो हारेगी, उसको जन्मभर जीतने वाली की सेवा करनी पड़ेगी। कद्रू भी जानती थी कि रंग तो सफेद ही है, पर उसकी योजना

तो बड़ी षड्यन्त्रकारी थी। उसने अपने सर्पपुत्रों को आज्ञा दी कि तुम पूँछ में लिपटकर उसको काला बना दो कि जिससे मैं अपनी सौत को जीवनभर के लिए अपनी गुलाम बना लूँ। सर्पों ने आदेश का पालन किया, पूँछ में लिपट गए और कद्रू ने विनता को ले जाकर दिखाया कि पूँछ काली है। बेचारी विनता मान गई, क्योंकि आँखों से काला रंग दिखाई पड़ रहा है और वह कद्रू की सेवा करने लगी। बाद में इन्हीं विनता से जब गरुड़ का जन्म हुआ, तब गरुड़जी ने जिन सर्पों के कारण माँ को इतना कष्ट हुआ, उनको खाना प्रारम्भ किया। सर्पों से जो गरुड़ की शत्रुता है, उसका रहस्य यही है। गुरु वसिष्ठ ने यह कथा सुनाई, लेकिन गोस्वामीजी ने कहा कि भगवान् राम की सुनने की विशेषता यह थी कि वे सुनने के बाद सुनाते भी थे—

बेद पुरान सुनहिं मन लाई।
आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥ १/२०४/६

जब गुरुजी कथा कहकर चले जाते हैं तो भगवान् राम अपने भाइयों के साथ बैठ करके कथा पर विचार करते हैं। इसी को मनन करना चाहते हैं। सुनने के बाद भी अगर वह धारा चले तो बहुत बढ़िया है। जिस दिन कद्रू-विनता की कथा वसिष्ठजी ने सुनाई, उस दिन कैकेयी, सुमित्रा, कौसल्या, भरत, राम, शत्रुघ्न एवं लक्ष्मण सब थे। कथा के बाद चारों भाई बैठे तो बातचीत होने लगी कि आज गुरुजी ने जो कथा सुनाई, उसका तात्पर्य क्या है? बड़ी विचित्र कथा है। भगवान् राम से भरतजी ने गद्गद होकर पूछा कि आप ही कृपा करके बताएँ कि इस कथा का तात्पर्य क्या है?

श्रीराम ने कहा कि कद्रू और विनता वस्तुतः कुमति और सुमति हैं। कद्रू कुमति है और विनता सुमति है और सत्य तो उज्ज्वल ही है, लेकिन सर्प हैं संशय के प्रतीक। कभी-कभी संशय के कारण जो सत्य का वास्तविक स्वरूप है, वह जैसा है, वैसा नहीं दिखाई देता। परिणाम यह होता है कि कुमति के द्वारा जो संशय उत्पन्न होते हैं, उसके द्वारा बेचारी सुबुद्धि भ्रम में पड़ जाती है और उसको कुमति की सेवा करनी पड़ती है। इस कथा का तात्पर्य यह है लेकिन भगवान् ने कहा कि बाद में जब विनता के गर्भ से विचार के रूप में गरुड़ का जन्म हुआ, तब अन्त में विचार ने संशय का विनाश किया और माँ अभिशाप से मुक्त हुई। सुमति पुनः कुमति के शाप से मुक्त हो करके अपने कल्याणकारी रूप में आ जाती

हैं। भगवान् राम ने शुद्ध आध्यात्मिक व्याख्या बनाई और श्रीभरतजी गद्गद हो गए, पर प्रभु ने कहा कि भरत! मुझे तो यह अर्थ लगा, पर तुम्हें क्या लगा?

भरतजी ने कहा कि महाराज! आपका अर्थ तो सुन्दर है ही, वह तो सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु मुझे एक अर्थ यह लगा कि सारा अनर्थ इसलिए हुआ कि जिस समय सर्पों को कद्रू को यह कहा कि तुम लोग जाकर पूँछ में लिपट जाओ, उस समय यदि सर्पों ने यह कह दिया होता कि इतनी अनुचित आज्ञा हम नहीं मानेंगे तो यह अनर्थ न होता। इसलिए यदि माता-पिता भी अनुचित आज्ञा दें तो नहीं माननी चाहिए। मुझे तो लगता है कि कद्रू-विनता की कथा का तात्पर्य यही है। भरतजी ने धर्ममूलक अर्थ लिया। भगवान् राम ने शत्रुघ्न से पूछा कि तुमने क्या अर्थ लिया। शत्रुघ्नजी ने कहा कि मुझे पूरी कथा में एक ही बात समझ में आई कि विनता और कद्रू में न बहस हुई होती, न विवाद हुआ होता और न यह संकट आता। इसलिए बोलना, चालना, विवाद करना आदि व्यर्थ है। सचमुच सब लोगों ने जो कथा से पाठ सीखा, वही जीवन में उतारा। जब कैकेयीजी ने भरत को राज्य देने की आज्ञा दी तो शत्रुघ्न को याद आ गया कि कद्रू बोल रही है और कद्रू की आज्ञा मानना अनर्थ को बुलाना है। शत्रुघ्नजी ने जीवन में बोलना बन्द कर दिया कि मौन रह करके सबकी सेवा की। वाणी का विलास भी कभी बड़े भारी संकट में डाल देता है। फिर लक्ष्मणजी से भगवान् राम ने पूछा कि तुम कैसे चुप हो? तुम बताओ तुम्हारी दृष्टि में कथा का क्या अर्थ है?

लक्ष्मणजी ने कहा कि मुझे तो कथा का अन्तिम परिणम यह समझ में आया कि जब गरुड़ का जन्म हुआ तो संसार के सारे सर्प गरुड़ के डर के मारे काँपने लगे, परन्तु एक सर्प ऐसा है कि जिस पर गरुड़ का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह कौन है? उन्होंने अपनी ही ओर इशारा किया कि शेषनाग ही एक ऐसे हैं कि जिनको गरुड़ से भय नहीं लगता। क्यों नहीं डर लगता? इसलिए कि जो निरन्तर भगवान् को हृदय में धारण किए रहते हैं, उसे किसी की आवश्यकता नहीं है, किसी से भय नहीं है। इसलिए मैंने निर्णय कर लिया है कि आपका साथ कभी नहीं छोड़ूँगा, क्योंकि जीव जब तक आपके साथ रहता है, तभी तक निर्भय है। इन लोगों ने तो कथा का यह अर्थ लिया, लेकिन एक अर्थ मन्थरा ने भी ले लिया और वही अर्थ आज कैकेयी को सुनाया।

बोली कि उस दिन आपने गुरुजी की कथा सुनी थी। क्या अर्थ है कथा का? मन्थरा ने बताया कि उस कथा का एक ही अर्थ है कि सौत-सौत को दुःख जरूर देती है। तुम हो विनता और कौसल्या हैं कद्रू–

कद्रूँ बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब।
भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब॥ २/१९

परिणाम क्या हुआ? कथा के इस मिथ्या अर्थ से कुबुद्धि के द्वारा, असद् बुद्धि के द्वारा संशय की सृष्टि की गई, भ्रम की सृष्टि की गई, प्रलोभन की सृष्टि की गई। मैं और मेरेपन के कारण, बुद्धि और विश्वास का सदुपयोग न करने के कारण ही कैकेयीजी विचलित हो जाती हैं और मन्थरा से प्रेरित हो करके, उनके ऊपर कुसंग का रंग बहुत जल्दी चढ़ जाता है। मानो संकेत यह है कि क्रियापरायण व्यक्ति के जीवन में समस्याएँ आती हैं और उन समस्याओं से हम कैसे बचें? और श्रीभरतजी ने उसे कैसे दूर किया? उसकी चर्चा हम पुनः अगले प्रवचन में करेंगे।

□□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

षष्ठ प्रवचन

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ २/९१
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८

कैकेयीजी की तुलना हम एक ऐसे व्यक्ति से कर सकते हैं, जो प्रारम्भ में स्वस्थ है जैसे कोई स्वस्थ व्यक्ति भी कुपथ्य करे, भूल करे, तो वह अस्वस्थ हो जाता है तथा रोगी और भी बीमार हो जाता है और तब किसी चतुर वैद्य के द्वारा, डॉक्टर के द्वारा रोग का निराकरण कर दिया जाता है, रोग की दवा कर दी जाती है तो पुनः वह व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। कैकेयीजी का चरित्र ठीक इसी प्रकार का है। प्रारम्भ में उनका व्यक्तित्व स्वस्थ था। उनके चरित्र में बड़ी ऊँचाई दिखाई दे रही थी। पर बाद में उनमें अस्वस्थता आ गई। मानसिक रोगों का उदय कैकेयीजी के जीवन में हुआ और वे अस्वस्थ हो गईं तथा अन्त में भरत जैसे महान् वैद्य के द्वारा उनके रोगों की चिकित्सा की गई, उनके रोग दूर हुए, और वे फिर से स्वस्थ हो गईं।

कैकेयीजी का व्यक्तित्व जीवन में स्वस्थता एवं रुग्णता के दोनों पक्षों को प्रकट करने वाला है। कैसे हमारे शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं? चेष्टा तो यही की जानी चाहिए कि हमारे शरीर में रोग उत्पन्न न हों, लेकिन यदि रोग हो जाएँ और उनकी दवा न की जाए तो मनुष्य मृत्यु का ग्रास बनेगा। ठीक इसी प्रकार से व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह मानसिक रोगों से बचने की चेष्टा करे, पर यदि ये मानसरोग जीवन में आ ही जाएँ तो किसी सन्त, गुरु या महापुरुष के द्वारा अपने मन की

चिकित्सा कराने की चेष्टा करे और पुनः स्वस्थता का लाभ करे।

कैकेयीजी जिस पद्धति से अस्वस्थ होती हैं, उसके मूल में मन्थरा का व्यक्तित्व है। शरीर के रोग दो प्रकार के होते हैं, एक तो संक्रामक रोग होते हैं, जो छूत से एक दूसरे के शरीर में पैठ जाते हैं और दूसरे रोग ऐसे होते हैं, जो छूत से नहीं फैलते, रोगी के पास बैठने से ही दूसरे में वे रोग आएँ, ऐसी सम्भावना नहीं होती, लेकिन मन के रोगों में तो प्रत्येक रोग ही संक्रामक रोग है, छूत का रोग है। इसका अभिप्राय यह है कि जो मानसिक दृष्टि से रोगी हैं, अगर हम उनका संग करेंगे, उनके पास बैठेंगे, उनकी बातें सुनेंगे तो अनजाने में ही वे रोग हमारे मन के भीतर भी बैठे बिना नहीं रहेंगे।

मन्थरा मानसिक दृष्टि से रोगी है। शरीर की दृष्टि से तो मन्थरा के शरीर में कमी थी ही, लेकिन उसके मन में भी विकृति है और वही मन के रोगों का छूत कैकेयीजी के जीवन में भी पैठ गया। गोस्वामीजी ने मानसिक रोगों की तुलना शरीर के रोगों से की है। पहले तो जिसे असाध्य माना जाता था, वह है राजयक्ष्मा। आजकल तो इसकी दवा निकल आई है। यह छूत का रोग है, जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में पैठ जाता है। मन में भी राजयक्ष्मा होता है–

पर सुख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥ ७/१२०/३४

दूसरे के सुख को देख करके अगर मन में जलन हो तो निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि मन का राजयक्ष्मा हो गया। मन्थरा मन की राजयक्ष्मा है। नगर में सजावट होती देखकर पूछा कि यह क्यों हो रही है? तो पता चला कि कल राम का राज्याभिषेक होगा। इतने मात्र से ही उसकी छाती में जलन होने लगी–

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू।
राम तिलकु सुनि भा उर दाहू॥ २/१२/२

मानो राजयक्ष्मा हो गया, पर इस रोग के साथ-साथ गोस्वामीजी ने एक और रोग का भी वर्णन किया है, वह बड़ा विचित्र-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह बड़ी समझ में आने वाली बात है। मन में राजयक्ष्मा के साथ-साथ दूसरे रोग की भी सम्भावना बनी हुई है। मन में यदि कुटिलता आए, दुष्टता आए तो समझ लेना चाहिए कि मन का कोढ़ हो गया है।

राजयक्ष्मा और कोढ़ दोनों छूत के रोग हैं और यदि दोनों रोग एक ही व्यक्ति को हो जाएँ, तब तो उसकी भीषणता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसका अर्थ है कि दूसरे का सुख देखकर जलने वाले भी दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे कि जो दूसरे का सुख देखकर जलन का अनुभव तो करते हैं, दुःखी तो होते हैं, परन्तु वे उस दुःख को चुपचाप सह लेते हैं, यह केवल राजयक्ष्मा है, परन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं कि इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होते, बल्कि वे आगे बढ़कर इसकी चिन्ता करते हैं कि दूसरे के सुख को हम दुःख में कैसे बदलें?

यदि दूसरे के सुख को नष्ट करने के लिए मन में दुष्टता और कुटिलता आ जाए तो समझ लेना चाहिए कि यह मन का कोढ़ है। इसका अर्थ यह है कि जब दूसरे के सुख को देखकर जलन होती है तो हम अपनी ही हानि करते हैं। अपने हृदय को ही कम कष्ट देते हैं, परन्तु जब मन में दुष्टता उत्पन्न होती है, तब हम दूसरे को भी दुःखी बनाने की चेष्टा करते हैं। हम दूसरे में भी अपने मन का रोग पैठाने की चेष्टा करते हैं। मन्थरा में ये ही दोनों रोग एक साथ हो गए। राजयक्ष्मा भी और कोढ़ भी। सुख देखकर जलन हुई, यह राजयक्ष्मा है, परन्तु इससे वह उदास होकर चुप नहीं बैठी, बल्कि अब उसको एक ही चिन्ता हो गई कि–

करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती।
होइ अकाजु कवनि बिधि राती॥ २/१२/३

इस योजना को मैं कैसे पलटूँ कि जिससे राम को राज्य न मिलने पाए, अयोध्या का यह आनन्द और उल्लास कैसे समाप्त हो? यह मन की कुटिलता और दुष्टता राजयक्ष्मा एवं कोढ़ का रोग है। मन्थरा इन दोनों रोगों से ग्रस्त है और इन दोनों रोगों को लेकर मन्थरा कैकेयी के पास जाती है। प्रारम्भ में ऐसा लगा कि कैकेयीजी स्वस्थ हैं, परन्तु धीरे-धीरे कब वे रोग कैकेयीजी में पैठ गए? इसका पता भी नहीं चला। सचमुच कैकेयी के जीवन में मन का राजयक्ष्मा भी पैठ गया और मन का कोढ़ भी पैठ गया। जैसे शरीर में यदि एक अंग में रोग हो और दूसरा अंग स्वस्थ हो तो जो अंग स्वस्थ है, व्यक्ति उसका सदुपयोग कर सकता है। इसी प्रकार से अन्तःकरण में जो अन्तःकरण चतुष्टय अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार है, इनमें से यदि एक ही अस्वस्थ हो, तब भी ठीक

है। जैसे मन में रोग हुआ है, पर बुद्धि स्वस्थ है, मन में बुराई आई अभिमान आ गया या ईर्ष्या आ गई, तुरन्त बुद्धि में यह बात आई कि यह तो बड़ी अनुचित बात है, अभिमान और ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। इसका अर्थ है कि उस व्यक्ति का मन तो बीमार हुआ, परन्तु अपनी बुद्धि के द्वारा मन का समर्थन करे तो अनिष्ट होता है। रोग तो सतीजी के जीवन में भी उत्पन्न होता है, जब वे राम की परीक्षा लेने जाती हैं और बाद में शंकरजी से झूठ बोल जाती हैं तथा कह देती हैं कि–

कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं।
कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं॥ १/५५/२

पर सतीजी की विशेषता यह है कि जब एक बार सतीजी से भूल हो गई और शंकरजी ने उसका परित्याग कर दिया तो उनके अन्तःकरण में पश्चाताप का उदय हुआ, ग्लानि का उदय हुआ और उन्होंने समझ लिया कि सारी भूल तो मेरी ही है–

निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। १/५७/४

इसका अभिप्राय है कि रोग होने पर रोगी को अपने रोग का ज्ञान तो हो! सीधी-सी बात है कि यदि रोग भी हो और रोगी अपने को बीमार न माने तो वह दवा करेगा ही नहीं और दवा नहीं करेगा तो उसका रोग असाध्य हो जाएगा और वह मरेगा। इसी प्रकार से मन में रोग होने पर यदि बुद्धि से कम-से-कम हम यह समझते रहें कि हम रोगी हैं, तो यह ठीक है, मन में काम आने के बाद हम बुद्धि से यह सोचें कि यह वृत्ति घातक है, क्रोध आने के बाद हमारे अन्तःकरण में यह बात आए कि क्रोध आना उचित नहीं है तो इसका अभिप्राय है कि बुद्धि स्वस्थ है, लेकिन मन में बुराई के आने के साथ-साथ यदि हम बुद्धि से उसका समर्थन करने लगें, काम, क्रोध एवं अहंकार का समर्थन करने लगें, तब तो बड़ी कठिनाई आ जाएगी।

कैकेयीजी की समस्या यही थी कि मन्थरा ने पूरी तरह से उनके मन को, उनकी बुद्धि को, उनके चित्त को और उनके अहंकार को, सबको पूरी तरह से अस्वस्थ बना दिया। कहीं भी कैकेयीजी को यह प्रतीत नहीं हो रहा है कि मेरे मन में जो यह बात आई है, यह अनुचित है। मन्थरा ने यह कैसे किया? मन्थरा ने हर वस्तु को उत्तेजित कर दिया। एक तो मन में लोभ उत्पन्न कर दिया, बुद्धि में विभ्रम उत्पन्न कर दिया, चित्त

में संशय उत्पन्न कर दिया और उनका जो अहंकार था, उसको उकसा दिया। ये चारों कार्य मन्थरा के द्वारा कैकेयीजी के जीवन में हुए, यह स्पष्ट दिखाई देता है। अयोध्या में कैकेयीजी बड़ी बुद्धिमती मानी जाती थीं, पर मन्थरा से बात करने पर जब इतनी बदल गईं तो गोस्वामीजी ने कहा कि लगता यही है कि–

को न कुसंगति पाइ नसाई।
रहइ न नीच मतें चतुराई॥ २/२३/८

कौन व्यक्ति कुसंग के कारण नीचे नहीं गिर जाता है? जब व्यक्ति ऐसे लोगों का संग करता है तो उसकी बुद्धि का 'विनाश हो जाता है। वस्तुतः मन्थरा की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह कैकेयीजी की बुद्धि में विभ्रम डालने में सफल हो गई। विभ्रम यह है कि कैकेयीजी की बुद्धि में, यह बात आ गई कि भरत मेरे पुत्र हैं और राम मेरी सौत के पुत्र हैं। श्रीराम कैकेयीजी को माँ कहते हैं और श्रीभरत की जननी के रूप में शरीर की दृष्टि से वे भरत की माँ हैं ही।

सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं। एक तो शरीर के नाते से नाता, अर्थात् जो शरीर से उत्पन्न हुआ है, वह पुत्र है। शरीर के नाते से भी सम्बन्ध का निर्वाह संसार में किया जाता है, पर व्यक्ति केवल शरीर ही तो नहीं है। शरीर तो कुछ दिन रहेगा और फिर नष्ट हो जाएगा। आत्मतत्त्व नाते का दूसरा केन्द्र है। अतः नाते के दो केन्द्र हुए–आत्मा का नाता और शरीर का नाता। इन दोनों के नातों में अन्तर यह है कि शरीर के नाते में जब तक शरीर है, तब तक उसका व्यवहार करना व्यक्ति का कर्तव्य है और शरीर के नाते से व्यक्ति अपने कर्तव्य का निर्णय करता भी है, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि शरीर का जो नाता होगा वह केवल एक जन्म का ही नाता होगा।

पिछले जन्मों में जो शरीर रहा होगा, उससे न जाने कितने अगणित व्यक्तियों का सम्बन्ध रहा होगा, पर हमें शरीर के उन सम्बन्धों का स्मरण नहीं है, परन्तु एक सम्बन्ध ऐसा है कि जो अनादिकाल से लेकर के अनन्त काल तक कभी बदलने वाला सम्बन्ध नहीं है, वह सम्बन्ध कौन-सा है? शरीर जितना अनित्य है, आत्मा उतना ही नित्य है। तो आत्मा के सम्बन्ध की दृष्टि से यदि विचार करके देखें तो यह नाता कौन-सा है? बड़ी सीधी-सी बात है कि आत्मा का ब्रह्म से जो शाश्वत नाता है, वह

तो कभी बदलता नहीं–

ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी॥ ७/११६/२

यदि इस दृष्टि से विचार करके देखें तो ईश्वर से जीव का शाश्वत नाता है, शाश्वत सम्बन्ध है, इसे रामायण में बार-बार कहा गया कि–

ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू। १/२१६/४

नए नाते को व्यक्ति महत्त्व दे और पुराने नाते को भूल जाए, यह तो ठीक नहीं है, पर हम लोग आजकल यही करते हैं। नए नाते इतने आकर्षक लगते हैं कि पुराने नाते की याद ही नहीं रह जाती। नए नाते तो ठीक हैं, पर पुराने नाते को छोड़ देना तो ठीक नहीं है।

हनुमान्‌जी जब लंका में जाते हैं तो विभीषण के सामने यही समस्या थी। भगवान् के मन्दिर में जाकर पूजा करते हैं, उनके नाम का जप करते हैं, लेकिन रहते हैं रावण के महल के बगल में और सीताजी का हरण हो जाने के बाद भी विभीषण राम की शरण में नहीं जाते। इसका कारण क्या है? उनकी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो गया था कि मैं भगवान् की भक्ति तो करता हूँ, पर रावण मेरा सगा भाई है और बड़े भाई का स्थान पिता तुल्य होता है और रावण जब मेरे प्रति इतना सुन्दर व्यवहार करता है कि मेरे किसी काम में हस्तक्षेप नहीं करता तो फिर ऐसी परिस्थिति में मैं रावण को छोड़कर कैसे जाऊँ? भाई को छोड़कर श्रीराम के पास कैसे जाऊँ? सन्त लोग क्या करते हैं? सत्संग क्या करता है?

सत्संग हमारी देहबुद्धि के भ्रम को मिटाता है। सत्संग का मूल उद्देश्य है कि पहले तो बुद्धि में जो भ्रम है, वह दूर हो और उसके बाद जो मन में समस्याएँ हैं, मन में रोग हैं, वे दूर हों। इसका अभिप्राय है कि पहले हम बुद्धि से सच्चाई को तो समझ लें। जो वास्तविकता है, उसको तो समझ लें। हनुमान्‌जी और विभीषण के सत्संग में क्या हुआ? हनुमान्‌जी के मुँह से एक शब्द सुन करके विभीषणजी चौंक पड़े, लेकिन हनुमान्‌जी ने जानबूझकर वह शब्द कहा था–

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।
देखी चहउँ जानकी माता॥ ५/७/४

भाई विभीषण सुनो! वैसे तो और भी कुछ कह सकते थे, मित्र कह सकते थे या लंकाधिपति के भाई कह सकते थे। किन्तु भाई जानबूझकर

कहा था। हनुमान्‌जी का तात्पर्य यह था कि तुम्हारे दो भाई हैं, एक भाई रावण है और दूसरा भाई मैं हूँ। अगर तुम अपने को शरीर समझते हो तो तुम्हारा भाई रावण है। अगर तुम अपने को जीवात्मा समझते हो तो तुम्हारा भाई मैं हूँ। अगले वाक्य में हनुमान्‌जी ने स्पष्ट भी कर दिया कि हम दोनों भाई कैसे हैं? व्यवहार की दृष्टि से तो भाई हो ही नहीं सकते थे, क्योंकि अलग-अलग देश में रहने वाले थे। हनुमान्‌जी भारत के रहने वाले और विभीषण लंका के रहने वाले थे, उनका जन्म बन्दर कुल में हुआ और उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ, शरीर की दृष्टि से उनके परिवार भी बिल्कुल अलग-अलग हैं, परन्तु हनुमान्‌जी ने कहा कि असली नाता तो हमारा-तुम्हारा ही है। रावण वाला नाता तो चलने वाला नाता नहीं है। हमारा-आपका नाता क्या है? यह अगले वाक्य में स्पष्ट कर दिया कि–

देखी चहउँ जानकी माता। ५/७/४

यह बताइए कि जानकीजी कौन हैं? विभीषणजी ने कहा कि सारी सृष्टि की जननी, जीवात्मा का सृजन करने वाली एवं सृष्टि का सृजन करने वाली सीताजी हैं। आपकी माता भी सीताजी और मेरी माता भी सीताजी। आत्मतत्त्व की दृष्टि से विचार करके देखिए तो जब हम दोनों की एक ही माता हैं, हम दोनों के एक ही पिता श्रीराम हैं तो हम और आप तो सगे भाई हैं। मानो हनुमान्‌जी ने चेतावनी दे दी कि अब आप ही निर्णय कर लीजिए कि दोनों भाइयों में से किसको मानना है? अगर दोनों भाइयों से निभ सके, तब तो ठीक ही है। संसार का व्यवहार भी चले और परमार्थ की रक्षा भी हो। लेकिन यदि दोनों नातों में भी कभी चुनाव करना पड़े तो फिर क्या करें?

इसका अभिप्राय यह है कि भौतिक नाते में कर्तव्य का यदि ठीक-ठीक पालन हो सके तथा भगवान् की भक्ति और भगवान् के प्रति प्रेम का भी निर्वाह हो सके, तब तो इसमें सन्देह नहीं कि यह बड़ी सुन्दर बात है। मानो हनुमान्‌जी ने संकेत कर दिया कि अब आगे आपको यह निर्णय करना है कि आप इस भाई का साथ देते हैं कि उस भाई का साथ देंगे? किसी न किसी भाई का साथ देना है। विभीषण के मन में बात तो थी ही, लेकिन वे भ्रम में पड़े हुए थे। बुद्धि में इसका प्रकाश हुआ। यद्यपि चित्त का संस्कार सरलता से नहीं छूटता, बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता

है, वह दिखाई भी देता है।

विभीषणजी ने प्रभुजी के समक्ष जाना चाहा तो बन्दरों ने रोक दिया और विभीषण बेचारे बाहर खड़े हो गए। बन्दरों ने जाकर सुग्रीव से कहा, सुग्रीव ने भगवान् राम से कहा और श्रीराम ने मन्त्रिमण्डल से परामर्श किया तथा विभीषणजी को न जाने कितनी देर तक वहाँ खड़े-खड़े प्रतीक्षा करनी पड़ी। आश्चर्य होता है कि भगवान् की शरण में पहुँचने वाले को इतनी देर तक द्वार पर रोक दिया गया और इतनी देर के बाद भगवान् मिले! यह विलम्ब क्यों लगा विभीषणजी को? जब वे लंका से चले आए, तब तो विलम्ब नहीं लगना चाहिए था। इसका बस एक ही कारण है। लंका से तो चले आए, लेकिन लंका का संस्कार अभी पीछा नहीं छोड़ रहा है।

बन्दरों ने जब विभीषणजी से पूछा कि आपका क्या परिचय दें कि कौन आया हुआ है? तब अभ्यास के कारण उनके मुँह से निकल गया कि कह दीजिए कि रावण का भाई आया हुआ है। बाल्यावस्था से ही रावण को भाई कहते-कहते ऐसा दृढ़ अभ्यास हुआ है कि विभीषण हनुमान्‌जी का उपदेश भूल गए। रावण का भाई कहने पर ही तो सारा संकट उत्पन्न हुआ था। सुग्रीव को सूचना दी गई तो यह कहकर सूचना दी गई कि रावण का भाई आया हुआ है। भगवान् राम ने सुग्रीव से पूछा कि क्या सूचना है? तो वे कह सकते थे कि विभीषण आए हैं, लेकिन उन्होंने भी वे ही शब्द दुहरा दिए कि–

आवा मिलन दसानन भाई। ५/४२/४

भला रावण का भाई कहीं विश्वास करने योग्य हो सकता है? उसको तो दण्ड ही दिया जाना चाहिए। कैदी ही बनाया जाना चाहिए। विभीषणजी को यह विलम्ब न लगता, यदि बन्दरों के पूछने पर वे यह कह देते कि हम हनुमान्‌जी के भाई हैं, तब काहे का विलम्ब था? तब तो हनुमान्‌जी तक सूचना दी जाती कि भगवान् के पास आपके कोई भाई मिलने के लिए आए हुए हैं। अब आप अपने भाई को ले आइए! तब तो यह हनुमान्‌जी की जिम्मेदारी हो जाती कि वे अपने भाई को प्रभु के पास ले जाते। विलम्ब भी लगा तो संस्कार के कारण। जब वह वृत्ति मिट गई कि मैं रावण का भाई हूँ, बुद्धि में जो विभ्रम था, वह विभ्रम मिट गया, तब प्रभु का मिलन हुआ।

वस्तुतः कैकेयीजी सौभाग्यवती थीं, क्योंकि शरीर की दृष्टि से भी उनका नाता इतना सुन्दर नाता था और पारमार्थिक दृष्टि से भी उनका नाता बड़ा अद्वितीय नाता था। उनके सामने विभीषण वाली समस्या तो नहीं थी। श्रीभरत जैसा उनका पुत्र और श्रीराम तो साक्षात् भगवान् हैं ही। ऐसी परिस्थिति में यदि कैकेयी अम्बा दोनों नातों का निर्वाह करना चाहें तो वे दोनों नातों का ठीक-ठीक निर्वाह कर सकती थीं, लेकिन कैकेयीजी की बुद्धि में यह भ्रम उत्पन्न कर दिया गया कि नहीं, नहीं, तुम्हारे वास्तविक पुत्र जो हैं, वे राम नहीं हैं, तुम्हारे वास्तविक पुत्र भरत हैं और तुम्हें भरत के हित की चिन्ता करनी चाहिए और इतना ही नहीं, बल्कि जब तक तुम राम के राज्याभिषेक में बाधक बन करके सौत से बदला नहीं लोगी, जब तक राम को कष्ट पहुँचाने में समर्थ नहीं बनोगी, तब तक तुम्हारा अपने पुत्र के प्रति प्रेम सार्थक नहीं होगा। यह बुद्धिविभ्रम उत्पन्न हो गया, यह भेदबुद्धि उत्पन्न हो गई और मन्थरा कैकेयी की यह दुर्बलता समझ गई।

जब कैकेयीजी ने यह कहा कि अगले जन्म में राम मेरे पुत्र बनें, तब मन्थरा समझ गई कि ये भाव के नाते को कम महत्त्व देती हैं और शरीर के नाते को अधिक महत्त्व देती हैं। नाते दोनों हैं, एक शरीर का और दूसरा भाव का। दोनों में अधिक महत्त्व किसे दिया जाए? इसका उत्तर है कि भई! शरीर का जो नाता है, उसमें तो लाचारी है। कोई चाहे कि ऐसा पुत्र हो? ऐसा भाई हो तो यह उसके वश में नहीं है, परन्तु भाव के द्वारा हम कहीं नाता जोड़ते हैं तो वहाँ बेबसी नहीं है। वहाँ तो हमने अपने मन से ही चुनाव किया है और यदि कहीं भगवान् के नाते से नाते की बात करें तो वहाँ नाता जोड़ना ही नहीं है, वहाँ तो वस्तुतः नाता है ही।

कैकेयीजी की दृष्टि देहवादी है, उनकी देह के प्रति आसक्ति है। भक्तिराज्य में भक्ति का नाता किसका नाता है? आप लोग देखते हैं कि भक्त लोग भगवान् को मित्र मान करके, अपने आपको सखी और भगवान् को प्रियतम मान करके अथवा भगवान् को पुत्र मान करके उनसे जो प्रेम करते हैं, क्या यह शरीर की दृष्टि से होता है क्या? जो भक्त अपने आपमें गोपीभाव स्वीकार करता है, यदि उसे शरीर की दृष्टि से देखें तो एक पुरुष उस भाव की कल्पना ही नहीं कर सकता, भगवान् में प्रियतमरूप की कल्पना ही नहीं कर सकता। अगर शरीर की दृष्टि से देखें तो 'भगवान् हमारे नन्हें बालक हैं', यह भाव हमारे अन्तःकरण में उमड़ ही

नहीं सकता। यह सब तो तभी सम्भव है कि जब हम यह निर्णय कर लें कि यह नाता शरीर का नहीं है, यह तो हमारी भावना का नाता है। इसलिए रामायण में सांकेतिक भाषा आती है।

सीताजी ने जब जन्म लिया तो क्या वे सुनयनाजी के गर्भ से जन्म नहीं ले सकती थीं? ले सकती थीं। सीताजी कौन हैं? साक्षात् भक्ति हैं। भक्ति देवी ने क्या बताया? यदि शरीर से जन्म लेने पर ये मुझे पुत्री मानें तो काहे के विदेह हैं? सच्चे विदेह तो तब हैं, देह से ऊपर उठे हुए तो तब हैं कि जब शरीर से जन्म न लेने पर भी पुत्री मानें। विदेह का विदेहत्व धन्य हो गया। उनको सीता मिलीं, उनको एक कन्या मिली, पर उसका जन्म उनकी पत्नी के गर्भ से नहीं हुआ, पर उन्होंने भाव से ही तो नाता मान लिया कि ये मेरी पुत्री हैं। मानो भक्ति का नाता भाव का नाता है, यह सिद्ध करने के लिए ही जनकनन्दिनी सीता गर्भ से प्रकट न हो करके पृथ्वी से प्रकट हुईं।

वे स्वतन्त्र रूप से बता देती हैं कि यदि शरीर का नाता होता तो व्यक्ति नाता जोड़ने में स्वतन्त्र नहीं था, परन्तु मानो जगत्जननी सीता ने स्वतन्त्र नाते का अवसर छोड़ दिया कि जब हमारा नाता भाव का नाता है तो जो नाता आप चाहें, उसी भाव से जोड़ लीजिए और वही नाता मानने के लिए मैं प्रस्तुत हूँ। इसीलिए कोई उनका पुत्र बन गया, जैसे हनुमान्जी उनके पुत्र बन गए। क्या शरीर की दृष्टि से हनुमान्जी पुत्र हैं क्या? श्रीभरत और श्रीलक्ष्मण सीताजी को माता मानते हैं तो क्या शरीर की दृष्टि से माता हैं क्या? नहीं, नहीं, ये सब तो शुद्ध भावराज्य की बातें हैं, भाव के रस का विस्तार है। ऐसी परिस्थिति में कैकेयी अम्बा ने भाव से नीचे उतर करके जब राम को महत्त्व नहीं दिया तो यह कुभाव की बात थी, राम के स्थान पर उन्होंने भरत को महत्त्व दिया तो मानो उन्होंने अनर्थ कर दिया और इस बुद्धिविभ्रम का निराकरण किसने किया? इसकी दवा तो भरतजी ने दी। प्रत्येक रोग की दवा, जो अन्तःकरण की चारों समस्याएँ थीं, उन सब समस्याओं का निदान श्रीभरत के द्वारा हुआ। श्रीभरत की जो भूमिका है, वह बड़ी ही विलक्षण है।

रामायण में बड़ी मीठी बात कही गई है कि कैकेयीजी की निन्दा करने के लिए उनको कैकयनन्दिनी कहा गया है, क्योंकि कैकयनन्दिनी होने के नाते यदि कैकेयीजी में कैकय के संस्कार हैं तो भरत भी तो

कैकेयीनन्दन हैं, उनमें भी तो कैकेयीजी का कोई संस्कार आया होगा, तो उसके उत्तर में बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया गया। अयोध्यावासियों के सामने पहले तो यही तर्क आया कि इस षड्यन्त्र में शायद भरत का भी हाथ है तो लोग यही कहते थे कि कैकेयी का बेटा कैकेयी जैसा ही तो होगा। लेकिन आगे चलकर पता चल गया कि यह तो बिल्कुल उल्टी बात है, तब लोगों ने दूसरा तर्क ढूँढ़ लिया और भगवान् राम ने भी इसकी दूसरी तरह की व्याख्या की।

जिस समय श्रीभरत चित्रकूट में सेना सहित पहुँचे और प्रभु को यह समाचार मिला कि भरत सेना सहित आ रहे हैं तो वे इसलिए व्याकुल हो गए, कि भरत तो मेरे लिए सिंहासन लेकर और राज्य के सभी प्रतीक चिन्ह लेकर आ रहे हैं, तब भगवान् सोचने लगे कि मैं अब भरत को क्या उत्तर दूँगा? यह प्रभु के मन में भाव आया, तो प्रभु के मन में जो द्विविधा उत्पन्न हुई और उससे व्याकुलता हुई तथा लक्ष्मणजी ने जब बाह्य रूप में देखा और उनका ध्यान इस बात पर गया कि सेना का नाम सुनते ही प्रभु के मुख पर कुछ चिन्ता आ गई, तो लक्ष्मणजी तो प्रभु के श्रेष्ठतम प्रेमी हैं और प्रेम की प्रकृति है कि इसमें उल्टी बात पहले आती है, अनिष्ट की बात पहले आती है, जैसे बालक को स्कूल से लौटकर आने में विलम्ब हो जाए तो तुरन्त माँ को यह भय होता है कि कहीं कोई दुर्घटना तो नहीं हो गई? यह प्रेम का स्वभाव है।

लक्ष्मणजी श्रीराम से इतना स्नेह करते हैं, इतना प्रेम करते हैं कि कोई अच्छी बात नहीं सोच पाते। लक्ष्मणजी को लगा कि प्रभु को इसलिए चिन्ता हो रही है कि सेना लेकर भरत आ रहे हैं तो क्या अब भाई से युद्ध करना पड़ेगा? लक्ष्मणजी अत्यधिक बिगड़े और कहा कि मुझे पहले तो महान् कष्ट हुआ कि भरत इस तरह से बदल गए! बाद में मैंने सोचा तो मुझे लगा कि नहीं नहीं, इसमें आश्चर्य क्या है? यह तो विश्व का पुराना इतिहास है। जब व्यक्ति गुण और दोष से मिल करके बना हुआ है, तो स्वाभाविक रूप से जब व्यक्ति का गुण सामने होता है तो हम उसे अच्छा कहने लग जाते हैं, परन्तु कब अवगुण प्रकट हो जाएगा, इसका भी कोई पता नहीं है। पुराने इतिहास के दृष्टान्त देते हुए श्रीलक्ष्मणजी ने कहा—

ससि गुर तिय गामी नघुषु चढ़ेउ भूमिसुर जान।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान॥

सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू।
केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥ २/२२८/१

जब इतने बड़े-बड़े महापुरुषों का पतन हो गया तो फिर भरत का भी यदि पतन हो जाए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? भगवान् श्रीराघवेन्द्र चुपचाप सुनते रहे। सुनते इसलिए रहे कि वे चाहते तो थे कि लक्ष्मण को जरा समझाएँ कि श्रीभरत के बारे में यह विचार ठीक नहीं है, परन्तु लक्ष्मणजी ने एक ऐसी बात कह दी कि श्रीराम का बोलना बन्द हो गया। लक्ष्मणजी ने कहा कि मैं आपसे बिल्कुल नहीं पूछूँगा कि भरत कैसे हैं? क्यों? मुझसे क्यों नहीं पूछोगे? मुझे पहले से मालूम है कि आप क्या कहेंगे? आप तो यही कहेंगे की भरत बड़े अच्छे हैं। तब आप उनको क्या नहीं मानेंगे? मैं आपके स्वभाव को जानता हूँ–

नाथ सुहृद सुठि सरलचित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान॥ २/२२७

आप स्वभाव से इतने भोले हैं कि विश्वास बड़ी सरलता से कर लेते हैं। आपकी और बातें तो मैं मान सकता हूँ, पर आप अच्छे पारखी हैं, यह मैं मानने को तैयार नहीं हूँ। अच्छे-बुरे की आपको ठीक-ठीक परख नहीं है। मैं आपसे यह क्यों पूछूँ कि भरत कैसे हैं? इसलिए भगवान् राम चुप हो गए कि मैं कहूँगा भी तो लक्ष्मणजी कहेंगे कि आप अच्छे पारखी नहीं हैं। आकाश में देवताओं को डर हुआ कि कहीं भरत और लक्ष्मण में युद्ध न छिड़ जाए? तब उन्होंने तुरन्त सावधान किया कि–

अनुचित उचित काजु किछु होऊ।
समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ॥ २/२३०/३

आकाशवाणी हुई, जिसे सुन करके लक्ष्मणजी संकोच में पड़ गए और बिल्कुल चुप हो गए, बोल ही नहीं रहे थे। प्रभु को बड़ी हँसी आई और लक्ष्मणजी की ओर देखा कि मुझसे तो पूछ नहीं रहे थे और देवताओं ने केवल एक बार कह दिया कि उचित-अनुचित का विचार कर कोई काम करना चाहिए तो उससे तुम संकोच में गड़ गए। मेरी अपेक्षा तुम्हें इन देवताओं पर अधिक विश्वास है क्या? लक्ष्मणजी ने कहा कि वैसे तो आप पर ही मेरा विश्वास है, पर जहाँ खोटे-खरे की परख की बात है, वहाँ देवताओं पर ही अधिक विश्वास होता है, क्योंकि ये पक्के व्यापारी हैं, ये लेन-देन में कुशल हैं। आप तो केवल देना ही देना जानते हैं। जिसको

देना ही देना हो, उसको खोटे-खरे की परख क्या हो सकती है? उसको तो स्वभाव से देना ही देना है। लक्ष्मणजी ने पूछा कि मेरी बात ठीक है कि देवताओं की बात ठीक है? तो प्रभु ने लक्ष्मणजी से भरतजी की बड़ी सुन्दर व्याख्या की। प्रभु ने कहा कि लक्ष्मण! यदि एक दृष्टि से देखा जाए तो तुम्हारी बात भी ठीक है–

सुनि सुर बचन लखन सकुचाने।
राम सीयँ सादर सनमाने॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई।
सब तें कठिन राजमदु भाई॥
जो अचवँत नृप मातहिं तेई।
नाहिन साधुसभा जेहिं सेई॥ २/२३०/५-७

सचमुच आजतक न जाने कितने व्यक्ति सत्ता प्राप्त करके, भोग प्राप्त करके बदल गए हैं, परन्तु भरत नियम नहीं हैं, भरत अपवाद हैं। साधारणतया सृष्टि की व्याख्या करेंगे तो प्रचलित सिद्धान्त से ही करेंगे, पर अपवाद का तात्पर्य यह है कि कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं कि जो साधारण सृष्टि के नियमों से ऊपर उठे हुए होते हैं और साधारण नियम उन पर लागू नहीं होते हैं, वे अपनी विशिष्ट ऊँचाई पर रहते हैं। भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने भरत के लिए दृष्टान्त देते हुए कहा कि सचमुच यह संसार गुण और दोष का मिश्रण है। जैसे, दूध और जल को यदि मिला दिया जाए तो साधारण व्यक्ति के लिए उसको अलग-अलग करना सम्भव नहीं है। गुण और दोष भी संसार में जल और दूध की तरह मिले हुए हैं। भगवान् ने एक पक्षी ऐसा बनाया है कि जो दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है–

कहहिं बेद इतिहास पुराना।
बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना॥ १/५/४

यह तो ठीक है, लेकिन ये भरत कौन हैं?

भरतु हंस रबिबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥ २/२३१/६-७

हंस की सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता यह है कि वह दूध पी लेता है और पानी को छोड़ देता है। लोग समझते हैं कि हंस निष्पक्ष है, लगता तो

यही है, पर हंस निष्पक्ष नहीं है, वह तो बड़ा बुद्धिमान् है। हंस निष्पक्ष तो तब होता कि जब वह दूध और पानी को अलग कर देता, परन्तु वह तो पानी को दूध से अलग करके दूध पी लेता है, तब तो वह दूध का पक्षपाती ही है, तभी तो वह पानी को छोड़कर दूध पी लिया करता है। श्रीभरत हंस की तरह सृष्टि में जन्म लेकर भी केवल गुणों को ही ग्रहण करते हैं और अवगुणों का परित्याग कर देते हैं, यही भरत की अद्वितीयता है, विलक्षणता है। जैसे कैकय से जन्म लेकर कैकेयी में संस्कार आए, वैसे ही भरत में कैकेयी के संस्कार आने चाहिए, लेकिन श्रीभरत का जो हंसत्व है, उसकी विशेषता यह है कि उन्होंने कैकेयी की विशेषताओं को तो लिया, उनके सद्गुणों को तो जीवन में ले लिया, लेकिन उनके दुर्गुणों का लेश भी कहीं उनके जीवन में पैठ नहीं पाया, प्रविष्ट नहीं हो पाया। सचमुच श्रीभरत कैकेयी के संस्कार से सर्वथा शून्य हैं। अयोध्यावासियों ने एक और तर्क दिया, उन्होंने कहा कि कैकेयी तो सर्पिणी है, परन्तु श्रीभरत सर्पिणी की मणि हैं। उस मणि में सर्प का विष तो नहीं होता है, ऐसी मान्यता है, यही उस मणि की विशेषता है–

अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई।
हरइ गरल दुख दारिद दहई॥ २/१८३/८

इसी प्रकार से मानो कैकेयी ने जिस विष की सृष्टि की, जिस जहरी लेपन की समाज के लिए सृष्टि की, कैकेयी से जन्म लेकर के भरत का चरित्र मानो मणि के रूप में उस विष को मिटा देता है, समाज के दोषों को मिटा देता है और इतना ही नहीं, कैकेयीजी की कमी को भी श्रीभरत दूर कर देते हैं। देखिए! सारे अनर्थ की जड़ क्या थी? कैकेयी की भरत के प्रति आसक्ति। इसीलिए श्रीभरत ने उस आसक्ति को मिटाने के लिए ही **माँ** शब्द का उच्चारण कैकेयीजी के लिए बन्द कर दिया और जब निन्दा करना प्रारम्भ किया और कहा कि–

बर मागत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥ २/१६१/२

तुम्हारी जीभ क्यों नहीं गल गई? तुम्हारे मुँह में कीड़े क्यों नहीं पड़ गए? यह सब कहने में सचमुच जो भरतजी का उद्देश्य था, वह पूरा हो गया। जब श्रीभरत ने कैकेयीजी को इन्हीं शब्दों में याद किया और कसकर फटकारा तो कैकेयीजी की आँखों में आँसू आ गए और तब कैकेयीजी

को राम की याद आने लगी। विचित्र बात है। वे तुरन्त राम और भरत की तुलना करने लगीं कि जिसको मैंने वन दिया, उसने वन जाते समय मेरे लिए क्या कहा? और जिसको राज्य देने के लिए मैंने इतना अनर्थ किया, वह मेरे लिए क्या कह रहा है? मैंने बेटे को पहचानने में भूल कर दी। श्रीभरत यही तो चाहते थे कि अब भी पहचान जाओ! उस नाते को भुलाकर ही तो तुमने सारा संकट उत्पन्न किया है। तुम्हें तो यह समझना चाहिए कि संसार में शरीर का बेटा कब माँ के विरुद्ध हो जाएगा, इसका कोई ठिकाना है? कब माँ और बेटे के बीच में दूरी उत्पन्न हो जाएगी, यह कोई दावा कर सकता है? इसलिए श्रीभरत के अन्तःकरण में कैकेयीजी के प्रति द्वेष नहीं है, उनके अन्तःकरण में तो यही इच्छा है कि कैकेयीजी हमारे प्रभु के गुणों को, प्रभु की महिमा को, प्रभु के शील को समझें और उनके गुणों की याद करें।

श्रीभरत के व्यवहार से वस्तुतः कैकेयीजी के अन्तःकरण में ग्लानि उत्पन्न हो गई और यही श्रीभरत का उद्देश्य था। इसीलिए श्रीभरत कैकेयीजी को जानबूझकर चित्रकूट ले गए। वैसे यह बहुत बड़ी बात है। रोग से या बुराई से छूटने का सबसे उत्तम उपाय क्या है? वह यह है कि रोगी के मन में रोग का ज्ञान हो जाए कि मुझे रोग हो गया है और वह रोग मिटाने की दवा करे तथा वैद्य जैसा-जैसा कहे, वैसा-वैसा वह करे। इसी प्रकार जीवन में यदि बुराइयाँ उत्पन्न हो जाएँ तो उन बुराइयों को मिटाने का सबसे बढ़िया उपाय यह है कि पहले कम से कम बुद्धि में हमको वह बुराई तो दिखाई दे और फिर हमारे अन्तःकरण में पश्चात्ताप उदय हो, ग्लानि का उदय हो और तब हम उन बुराइयों को मिटाने के लिए आगे बढ़ते हैं।

कैकेयीजी के मन में भरत के नाते के स्थान पर श्रीराम का नाता तब आया कि जब अयोध्या के एक-एक नागरिक ने कैकेयीजी से बोलना बन्द कर दिया और उन दिनों कैकेयीजी समाज में इतनी अधिक घृणा की दृष्टि से देखी जाती थीं कि सम्पूर्ण रामायण में केवल श्रीराम और श्रीलक्ष्मण ही ऐसे निकले कि जिन्होंने कैकेयीजी को असम्मान नहीं दिया, सारे लोग इन शब्दों में ही कैकेयीजी की याद करते थे कि–

एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। २/४६/२

कैकेयीजी को तो सबने धिक्कारा। गोस्वामीजी ने कहा कि कैकेयीजी

के मन में इतना पश्चात्ताप हुआ कि वे सोचने लगीं कि यदि पृथ्वी फट जाए तो मैं पृथ्वी में समा जाऊँ। मुझसे कितनी बड़ी भूल हो गई! मैं नरक में चली जाऊँ! लेकिन मैं इस संसार में किसी को मुँह दिखाने के योग्य नहीं हूँ। यह बात उनके मन में तो आई, लेकिन गोस्वामीजी ने कहा कि उनकी प्रार्थना करने पर भी पृथ्वी नहीं फटीं और यहाँ तक कि नरक ने भी कह दिया कि हम आपको अपने पास स्थान नहीं देंगे। पृथ्वी ने कहा कि जो राम विरोधी हैं, उसको मैं स्थान नहीं दे पाऊँगी। नरक ने कहा कि हम तो पापियों को स्थान देते हैं, लेकिन राम को कष्ट देना इतना बड़ा पाप है कि उसका कोई प्रायश्चित्त नरक में भी नहीं है। इसलिए तुम्हें स्थान नहीं मिलेगा। गोस्वामीजी ने कहा कि–

गरइ गलानि कुटिल कैकेई।
काहि कहै केहि दूषनु देई॥ २/२७२/१
अवनि जमहि जाचति कैकेई।
महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥ २/२५१/६

और जब यह स्थिति उत्पन्न हो गई कि पुत्र माँ कहकर नहीं बोलता, अयोध्यावासी घृणा से मुँह घुमा लेते हैं। नरक और पृथ्वी भी कैकेयीजी को स्थान देने के लिए तैयार नहीं हैं, उसी समय चित्रकूट में भगवान् राम आ गए और उन्होंने कैकेयीजी को हृदय से लगा लिया और बोले, माँ! यह बहुत अच्छा हुआ। यदि तुम्हारा बहुतों से नाता रहता तो बँटा रहता। अब सबसे नाता टूट गया, केवल मुझसे जो नाता है, वह ही रह गया। सब तुम्हें अस्वीकार कर सकते हैं, पर मैं तुम्हें अस्वीकार कैसे करूँगा? इसलिए कैकेयीजी को लगा कि अब कोई चिन्ता नहीं? गोस्वामीजी ने लिखा कि–

मानें राम अधिक जननी तें जननिहु जस न गई।

कैकेयीजी को सचमुच ऐसा लगने लगा कि इस बुराई में भी अन्त में कल्याण ही हुआ। मैं जिन नातों के कारण भ्रम में पड़कर राम से दूर हो गई थी, अब हमें उस राम के नाते की प्राप्ति हो गई, राम के सम्बन्ध की पुनः उपलब्धि हो गई और जब राम का नाता मिल गया, तब यदि कोई और नाता न भी मिले–

स्वामि सखा पितु मातु गुर। २/१३०

और नातों में तो एक जो नाता होगा, वही बोला जाएगा, पर

भगवान् से नाते में विशेषता यह है कि–

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम तात।
मन मन्दिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥ २/१३०

यह बुद्धि का दोष जिसे मन्थरा ने उत्पन्न कर दिया था, बुद्धि को रोगी बना दिया था, उसको भी श्रीभरत ने ही दूर किया। दूसरी बड़ी समस्या जो मन्थरा ने पैदा कर दी थी, वह यह थी कि लोभ का विकृत रूप उत्पन्न हुआ। मन्थरा कैकेयीजी से यह भी कह सकती थी कि आप महाराज श्रीदशरथ से यह वरदान माँग लीजिए कि विवाह में आपने वचन दिया था कि मेरे पुत्र को राज्य मिलेगा। वह राज्य भरत को दे दीजिए, लेकिन मन्थरा के मन में इतनी कुटिलवृत्ति उत्पन्न हो चुकी है कि मन्थरा ने कह दिया कि नहीं, नहीं, ऐसी भूल आप मत कीजिएगा। आप उस वरदान की तो बात ही भूल जाइए। जो वरदान विवाह में दिया है, उसकी तो चर्चा ही मत कीजिए, क्योंकि उसकी चर्चा करेंगी तो केवल एक ही वरदान मिलेगा और मैं एक ऐसा उपाय बता रही हूँ कि जिससे दोनों काम सिद्ध हो जाएँगे।

गोस्वामीजी से किसी ने पूछा कि कैकेयीजी का मन्थरा से क्या नाता है? तो एक नाता तो प्रसिद्ध है ही कि कैकेयी महारानी हैं और मन्थरा उनकी दासी है, लेकिन जब आगे चल करके वे मन्थरा की भाषा में ही बोलने लगीं तो किसी ने बड़े आश्चर्य से कहा कि कैकेयीजी इतनी बदल कैसे गईं? बोले कि जैसे गुरु से दीक्षा ले लेने के बाद शिष्य बदल जाया करते हैं, उसी प्रकार से उन्होंने गुरुदीक्षा ले ली है। कौन ऐसे पूज्यतम गुरु हैं कैकेयीजी के? तो कहा कि–

कोटि कुटिल मनि गुरु पढ़ाई। २/२६/६

मन्थरा से दीक्षा ले ली, कुटिल मणि थी मन्थरा। जैसे भक्त शिरोमणि कहा जाता है, जैसे भरतजी को भक्त-शिरोमणि कहा जाता है–

भगत सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल। २/२१९

वैसे ही मन्थरा कुटिलशिरोमणि है। उनसे दीक्षा ले ली है और उस दीक्षा ने क्या विकृति उत्पन्न कर दी? बोली कि आनन्द लेने से ही थोड़े काम बनेगा। भरत राजा हो जाएँगे तो उतना आनन्द कहाँ आएगा? सौत के बेटे को जब तक वन-वन भटकाने का आनन्द न मिले, तब तक आनन्द नहीं। वरदान तो दो माँगना है, जो रणक्षेत्र में दो वरदान देने का

वचन दिया था, वे दो वरदान माँगिए। यह बड़े महत्त्व की बात है। लोभी यदि लोभ आने पर एक ही वरदान माँगे तो उतनी समस्या नहीं, परन्तु जब लोभी के मन में मन्थरा की दीक्षा हो जाती है, तब वह जब भी माँगेगा, दो वरदान माँगेगा।

लोभी यदि केवल एक वरदान माँगे कि मुझे लाभ हो, तब तो कोई चिन्ता नहीं, परन्तु लोभी दूसरा वरदान माँगे बिना नहीं रहता कि दूसरे को घाटा जरूर हो, तब मेरा आनन्द पूरा होगा। मैंने एक ईंट के भट्ठे के सेठ को देखा, जो निराशा में कह रहे थे कि इस वर्ष तो लाभ हुआ, पर गत वर्ष घाटा हुआ था, वृष्टि होने से ईंट गल गई, नहीं तो दूना लाभ हो गया होता। मैंने कहा कि पिछले वर्ष न सही, परन्तु इस वर्ष तो लाभ हुआ। उससे आप खुश क्यों नहीं हैं? तब बोले कि क्या पता, अगले वर्ष लाभ होगा कि नहीं? मैंने कहा, भविष्य की बात छोड़िए, इस वर्ष तो लाभ हुआ, उसका आनन्द तो लीजिए। उन्होंने कहा कि इस वर्ष भी क्या आनन्द लें? मेरे पड़ोसी को मुझसे दूना लाभ हो गया। मैंने कहा कि अब आपका दुःख दूर होने वाला नहीं है। भूतकाल में ऐसा क्यों नहीं हुआ और भविष्य में ऐसा होगा कि नहीं होगा? तथा वर्तमान में किसी को नहीं हो! जो सुख मिले, जो लाभ हो, वह केवल हमको ही मिले, पड़ोसी को बिल्कुल लाभ न होने पाए, यह वृत्ति बड़ी घातक है। दूसरे को दुःख देने का जो दूसरा वरदान है, यह बड़ा घातक है। मन्थरा की जो यह विकृति है कि वह लोभ को भीषण रूप देकर के दूसरे को कष्ट पहुँचाए, इसका भी उत्तर श्रीभरत देते हैं। जब कैकेयीजी ने दो वरदान माँगे तो दशरथजी ने कहा कि यह दूसरा वरदान क्यों माँग रही हो? तुम्हीं तो कहती थीं कि--

सब कोउ कहइ रामु सुठि साधू।
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू॥ २/३१/६-७

तुम तो सदा यह कहा करती थीं कि राम तो महान् साधु चरित्र के हैं और राम जैसा साधु तो संसार में मिलना कठिन है तो--

कारन कवन आज बन देहू।

राम से ऐसा क्या अपराध हो गया कि तुम राम को वन दे रही हो? कैकेयीजी ने यह नहीं कहा कि मैं राम को दण्ड दे रही हूँ, या राम से बदला ले रही हूँ। कैकेयीजी ने कहा कि--

राम साधु। २/३२/७

मैं तो अब भी राम को साधु मानती हूँ और मैं चाहती हूँ कि राम तो साधु हैं ही, पर बेटा साधु हो और बाप साधु नहीं हो तो काम नहीं बना, इसलिए--

रामु साधु तुम्ह साधु सयाने। २/३२/७

अब आप भी साधु बन जाइए। राम साधु हैं, इसलिए तो मैं वन में तपस्या करने के लिए भेज रही हूँ। यह तो आपकी भूख है कि आप साधु को सिंहासन पर बैठा रहे हैं। मैं कोई अन्याय थोड़े ही कर रही हूँ, जो साधु को वन भेज रही हूँ।

श्रीभरतजी ने इसका बहुत बढ़िया उत्तर दिया। वे कुटिया बना करके, तपस्वी बन करके जमीन के नीचे क्यों रहने लगे? मानो यह भरतजी का कैकेयीजी के लिए उत्तर था कि जब दूसरे के बेटे के लिए तपस्या श्रेष्ठ है, तब तो अपने बेटे को भी तपस्या करते देखकर सन्तुष्ट ही होना चाहिए कि वाह! हमारा बेटा बहुत बढ़िया काम कर रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि सचमुच कैकेयीजी के अन्तःकरण की जो विकृतियाँ हैं अर्थात् मन भी रोग से ग्रस्त है, बुद्धि भी विकृतियों से घिरी हुई है और सबसे बुरी बात यह हुई कि उनके चित्त में ईश्वर के प्रति संशय उत्पन्न हो गया और उनके मुँह से एक वाक्य निकला। मन्थरा से कहा--

तोहि सम हित न मोर संसारा।
बहे जात कई भइसि अधारा॥ २/२२/२

मन्थरा! मैंने सारे संसार पर दृष्टि उठाकर देख लिया कि तुमसे बढ़ करके मेरा कोई हितैषी नहीं है। अरे! संसार में जीव का सबसे बड़ा हितैषी तो एक ही है। नारदजी में तो सभी बुराइयाँ आ गई थीं, पर नारदजी बच गए, क्योंकि जब नारद ने भगवान् को बुलाया तो भगवान् ने पूछा कि नारद! तुमने मुझे ही क्यों बुलाया? और किसी को क्यों नहीं बुलाया? तुम कामदेव से सुन्दरता माँग लेते। मुझसे सुन्दरता क्यों माँग रहे हो? नारदजी के मुख से वाक्य निकला कि--

मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ। १/१३१/२

आपसे बढ़कर तो मैं किसी और को हितैषी नहीं मानता, इसलिए मैं जो कहूँगा, सिर्फ आपसे कहूँगा। सुनकर भगवान् ने नारद को हृदय से लगा लिया और मन-ही-मन कहा कि चिन्ता मत करो, जब तुमने सही-सही

हितैषी को पहचान लिया है तो मैं तुम्हारा हित ही करूँगा, अहित नहीं होने दूँगा। नारदजी ने ठीक-ठीक हितैषी को पहचाना, परन्तु दो व्यक्तियों ने हितैषियों को पहचानने में भूल की। एक तो प्रतापभानु ने कपट मुनि से कहा—

तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखउँ कोउ। १/१६६

और दूसरी कैकेयीजी हैं, जिन्होंने मन्थरा से कह दिया कि दुनिया में तुमसे बढ़कर मेरा हितैषी कोई नहीं है। पहले वे मानतीं थीं, राम सबसे बड़े हितैषी हैं और सबसे अधिक प्रिय हैं, परन्तु अब उसको लगने लगा कि मन्थरा सबसे बड़ी हितैषी है। इसका अभिप्राय है कि जब ईश्वर पर से विश्वास हटा, ईश्वर पर संशय हुआ और संसार में ऐसे विकृत स्वभाव वाले को अपना हितैषी बना लिया, तब परिणाम यह हुआ कि कैकेयी से श्रीभरत ने आँसू भर करके कहा कि जिन राम से सारे संसार के लोग कल्याण चाहते हैं—

जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी।
तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी॥
तेइ रघुनन्दनु लखनु सिय अनहित लागे जाहि॥ २/२६२

अरी कैकेयी! वे लक्ष्मण, वे राम और वे सीता जो सारे संसार के हितैषी और परम कल्याणकारी हैं, जिनको सर्प और बिच्छू भी अपना विष छोड़ करके इतना प्यार करते हैं, तुमको वे राम अहितकारी लगे और संसार में तुमने हित पाना चाहा। मन में लोभ, बुद्धि में विभ्रम और इस तरह से मन्थरा जैसे रोगी के संसर्ग से कैकेयीजी में सबके सब रोग पैठ गए, परन्तु जब भरत जैसे वैद्य मिलते हैं तो वे रोग कैसे दूर होते हैं? इसकी चर्चा हम अगले प्रवचन में करेंगे।

□□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

सप्तम प्रवचन

कैकेयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ २/६१
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८

श्रीभरत, गुरु वसिष्ठ एवं निषादराज से लेकर अयोध्या का प्रत्येक नागरिक श्रीकैकेयीजी की कटु आलोचना करता है, निन्दा करता है और भगवान् श्रीराघवेन्द्र कैकेयी के परम प्रशंसक हैं तथा वे कहते हैं कि वस्तुतः मेरी माँ कैकेयी के समान कोई वन्दनीय नहीं है। इन दोनों में जो परस्पर विरोध दिखाई देता है, उसको यदि सही अर्थ में हम ग्रहण करें तो दोनों ही पक्ष हमारे लिए उपादेय हैं।

कैकेयीजी की निन्दनीयता का जो पक्ष है, वह साधन की दृष्टि से हमारे लिए अधिक उपयोगी है, उसको दृष्टान्त के रूप में यों कहें कि नाट्य मंच पर जो घटनाएँ होती हैं, इनका एक रूप यह है कि जो भिन्न-भिन्न पात्र हैं, वे भिन्न-भिन्न मनोभावों के रूप हैं तथा उनके द्वारा अलग-अलग मनोवृत्तियाँ सामने आती हैं और उनके अन्तरंग में एक सूत्र यह दिया गया कि विश्व के रंगमंच पर भगवान् ने अपनी लीला, अपना नाटक प्रस्तुत किया।

नाटक में दर्शक की दृष्टि होती है और एक सूत्रधार की होती है। दर्शक के सामने जो घटनाएँ दिखाई पड़ रही हैं, उसी के अनुकूल उनके अन्तःकरण पर प्रभाव पड़ता है। यदि रंगमंच पर कोई व्यक्ति चोरी का अभिनय कर रहा हो और उस समय यदि दर्शक के मन में चोरी के प्रति घृणा की वृत्ति उत्पन्न हो जाए तो नाटक का उद्देश्य पूरा हो गया। यदि,

यह दिखाया जाए कि जिस व्यक्ति ने चोरी की, उसको समाज में निन्दा मिली और उसको न्यायालय के द्वारा दण्ड मिला तो यह दृश्य देखकर दर्शक को तो यही प्रेरणा लेनी चाहिए कि चोरी निन्दनीय है और उसके द्वारा दण्ड और तिरस्कार मिलता है। यदि दर्शक यह अर्थ ले ले कि यह जो कुछ हो रहा है, वह सब केवल नाटक है, इसका कोई अर्थ नहीं है तो फिर दर्शक को नाटक का कोई लाभ नहीं मिला। मंच पर जो घटनाएँ घट रही हैं, उनका उद्देश्य दर्शक को उपदेश देना है और वह सन्देश दर्शक ले रहा है।

वस्तुतः नाटक का जो सूत्रधार है, उसकी दृष्टि अभिनय के विषय में भिन्न प्रकार की होती है। यदि कोई व्यक्ति चोर का अभिनय बहुत बढ़िया निर्वाह करे और परदे की आड़ में वह जाए तो रंगमंच का संचालक या सूत्रधार उसको गले से लगा लेगा और पुरस्कार देगा। दोनों की दृष्टियाँ अलग हैं। दर्शक के मन में तो उसके प्रति धिक्कार की भावना आई और सूत्रधार के मन में उसके प्रति प्रशंसा की वृत्ति आई और उसने उसको गले से लगाया और पुरस्कार दिया। मान लीजिए कोई दर्शक परदे की आड़ में उसको गले लगाते देख ले और यदि वह इसका अर्थ यह ले ले कि चोरी बहुत बढ़िया है, तभी तो सूत्रधार इसको गले से लगाता है, तब तो उसने नाटक के उद्देश्य का सर्वनाश ही कर दिया। दर्शक को तो तब भी यही अर्थ लेना चाहिए कि चोरी करने वाले को अवश्य दण्ड मिलता है, परन्तु जो सूत्रधार का सत्य है, वह भी अपना एक अलग सत्य है। तो यहाँ पर भी ये दोनों दृष्टियाँ हैं।

श्रीभरत, गुरु वसिष्ठ या निषादराज जिस तरह से कैकेयीजी की आलोचना करते हैं, उस आलोचना का मुख्य तात्पर्य तो यही है कि कैकेयीजी के चरित्र के द्वारा हम लोगों को यह सन्देश दिया गया कि कैसे बुरे लोगों का संग करने पर वे बुराइयाँ हमारे अन्दर पैठ जाती हैं और उनके द्वारा कितने बड़े अनर्थ की सृष्टि होती है? तो हम लोगों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम कैकेयीजी के निन्दनीयता के पक्ष को ही अपनी प्रेरणा के लिए, साधना के लिए चुनें, लेकिन एक सत्य श्रीराम का सत्य है। श्रीराम कौन हैं? अगर रामवनगमन एक नाटक है तो श्रीराम इसके संचालक हैं, सूत्रधार हैं।

भगवान् राम जब यह देखते हैं कि कोई कैकेयी को दोष दे रहा

है तो वे कहते हैं कि मेरी माँ को दोष क्यों दे रहे हो? उनका तात्पर्य यह है कि जब सब कुछ मैं ही कर रहा हूँ, तो वह सूत्रधार का सत्य है। इसको यदि एक महान् नाटक की दृष्टि से देखें तो दिखाई देगा कि कैकेयीजी के प्रति श्रीभरत में बड़ी ग्लानि है। साधक की जो दृष्टि है, वही श्रीभरत की दृष्टि है और वह ग्लानि केवल कैकेयीजी के प्रति ही नहीं है, अपने प्रति उससे भी अधिक है। यही श्रीभरत के साधन की महत्त्वपूर्ण दृष्टि का परिचायक है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रीकैकेयीजी को जितना बुरा श्रीभरत समझते हैं, अपने आपको उससे भी अधिक बुरा समझते हैं, क्योंकि उनकी जो दृष्टि है, वह यह है कि कैकेयीजी ने जितना अनर्थ किया, उसका कारण मैं हूँ। मुझे राज्य दिलाने के लिए इतने अनर्थ की सृष्टि कैकेयी के द्वारा हुई।

श्रीभरत को ऐसा लगता है कि यदि कैकेयी को ऐसा विश्वास होता कि श्रीभरत राज्य नहीं लेंगे और उन घटनाओं से इतना बड़ा अनर्थ होगा, तो कभी भी इतना बड़ा अनर्थ न करतीं, लेकिन मुझे जन्म देने वाली कैकेयी को यह विश्वास था कि भरत राज्य ले लेगा। जिसने मुझे गर्भ में धारण किया, बाल्यावस्था से मैं जिसके पास रहा, उसके मन में यदि हमारे चरित्र के प्रति यह धारणा है तो यह हमारे चरित्र में कोई न कोई कमी ही है। अपने चरित्र को कसौटी पर कसने की यह एक महत्तम पद्धति है।

महर्षि पतञ्जलि ने यह कहा कि हमारे मन में अहिंसा आ गई है तो इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि जो मन, वचन और तन से दूसरे को कष्ट न पहुँचाए तो वह अहिंसक है, लेकिन उन्होंने कहा कि इस परिभाषा के द्वारा तो कई व्यक्ति ऐसे हैं कि जो यह मान लेंगे कि मैं अहिंसा में स्थित हूँ, पर उन्होंने जो कसौटी बनाई, वह तो बड़ी-बड़ी कसौटी है। उन्होंने कहा कि अहिंसा की पूर्णता अपने जीवन में मानने की एक ही कसौटी है, क्या? तो बताया कि—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

(पातंजलि योगदर्शन साधनपाद-३५)

यदि हमारे जीवन में अहिंसा की वृत्ति पूरी तरह से आ गई है तो सामने वाले व्यक्ति के मन में भी हिंसा की वृत्ति मिट जानी चाहिए। यदि सामने वाले व्यक्ति के मन में हमारे प्रति हिंसा की वृत्ति है तो इसका

अर्थ यह है कि अभी पूरी अहिंसा नहीं आई। यह कसौटी तो बड़ी कड़ी है। अगर हम अपने चरित्र के आधार पर अपनी श्रेष्ठता का निर्णय करें तो यह समझना सरल है, परन्तु सामने वाले के आधार पर हम निर्णय करें, यह तो बड़ा कठिन है, लेकिन शायद उत्तम साधक के लिए बढ़िया मापदण्ड तो यही है। ऐसी परिस्थिति में तो जीवनभर साधक को यह लगेगा कि अहिंसा की पूर्णता अभी नहीं हुई है, क्योंकि हिंसा की वृत्ति वाले लोग तो बने ही रहेंगे। इसी प्रकार श्रीभरत की कसौटी यह है कि यह मेरे चरित्र में कोई कमी है, मेरे अन्तःकरण में ही कोई दोष है, तभी तो मैं कैकेयीजी के हृदय में यह विश्वास उत्पन्न नहीं कर सका कि भरत के मन में त्याग की वृत्ति है। उनके हृदय में यह धारणा बनी हुई थी कि मुझे भी राज्य का लोभ है। इसलिए सारे अनर्थ का हेतु तो मैं हूँ। यह श्रीभरत के सोचने की शैली है। कैकेयी को भी जब वे दोषी मानते हैं तो उसमें भी वे अपने को ही दोष देते हैं और वे यही कहते हैं कि–

कारन तें कारजु कठिन होइ दोसु नहिं मोर।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥ २/१७९

श्रीभरत कहते हैं कि अगर कैकेयी की अपेक्षा भी मेरा अन्तःकरण कठोर है, बुरा है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जैसे पत्थर की खान से लोहा निकलता है, लेकिन पत्थर की अपेक्षा भी लोहा कठोर होता है। हड्डी के द्वारा वज्र बनाया जाता है, पर हड्डी की अपेक्षा भी वज्र अधिक कठोर है। इसी प्रकार से कैकेयीजी का हृदय पत्थर की तरह है और मेरा हृदय लोहे की तरह है। मैं तो और भी निष्ठुर हूँ। ऐसा श्रीभरत का कहना है। इसी तथ्य को लेकर एक बड़ी मीठी भावना है भरत की। श्रीभरत अपनी निन्दा करते हुए कहते हैं कि–

मोहि समान को पाप निवासू। २/१७८/३

और उसका कारण भी बतलाते हैं–

जेहि लगि सीय राम बनबासू॥ २/१७८/३

मुझ भरत के कारण अनर्थ हुए कि प्रभु को वन जाना पड़ा, श्रीकिशोरीजी को वन जाना पड़ा, पिताजी की मृत्यु हुई, मुझसे बुरा कौन होगा? इस प्रकार की दैन्य की वृत्ति लेकर जब श्रीभरत महर्षि भरद्वाज के आश्रम में जाते हैं तो वे इतने संकोच में पड़े हुए हैं कि महर्षि भरद्वाज से आँखें नहीं मिला पाते हैं, महर्षि को प्रणाम किया और सिर झुका कर बैठ गए,

पर महर्षि से दृष्टि नहीं मिला रहे हैं। महर्षि श्रीभरत की भावना समझ गए और उन्होंने यह चाहा कि किसी प्रकार भरत का संकोच दूर करें। श्रीभरत का संकोच यह था कि कहीं महर्षि ने यह पूछ दिया कि क्या तुम वही भरत हो कि जिसके लिए श्रीराम को वन जाना पड़ा और दशरथजी की मृत्यु हो गई? तो मैं क्या उत्तर दूँगा? यह संकोच है। इस संकोच को दूर करने के लिए महर्षि चेष्टा कर रहे हैं और उन्होंने कहा कि भरत! मैं तुमसे कुछ नहीं पूछूँगा, क्योंकि हमें, सब समाचार मिल चुका है–

सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। २/२०५/८

भरतजी को और भी संकोच हुआ कि जब इनको सब मालूम है तो पता नहीं मेरे बारे में ये क्या सोचते हैं? मुझे बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते होंगे। भरत संकोच में गड़ गए। महर्षि ने कहा कि भरत तुम संकोच मत करो, क्योंकि–

तुम्ह गलानि जियँ जनि करहु समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति॥ २/२०६

ग्लानि तो कैकेयी को होनी चाहिए, क्योंकि जो अनर्थ हुआ है, वह कैकेयी ने किया है, उसको लज्जा आनी चाहिए, परन्तु तुमको इतनी लज्जा क्यों हो रही है? यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। यह सुनकर भी भरतजी की लज्जा दूर नहीं हुई, क्योंकि उनकी भावना यह है कि कैकेयीजी ने जो कुछ किया है, वह सब मेरे लिए ही किया है, इसलिए दोषी मैं हूँ। तब महर्षि ने कहा कि सच तो यह है कि कैकेयी का भी दोष नहीं है, सरस्वती ने ही कैकेयी की बुद्धि को इतना बदल दिया।

भरतजी को लगा कि मेरा संकोच दूर करने के लिए ही महर्षि सरस्वतीजी के माथे दोष मढ़ रहे हैं, परन्तु भरत ने आश्चर्य से देखा कि मैंने आज तक यह तो सुना था कि सरस्वती बुद्धि शुद्ध करती हैं, परन्तु वे बुद्धि को भ्रष्ट भी करती हैं, यह बात तो मैं पहली बार सुन रहा हूँ। इसलिए भरतजी ने सोचा कि मेरा संकोच दूर करने के लिए ही महर्षि सरस्वतीजी को दोषी बता रहे हैं! फिर महर्षि ने आगे कहा कि नाटक के रंगमंच पर जो दिखाई दे रहे थे, वे भरत, कैकेयी एवं मन्थरा थीं और आगे देखने पर सरस्वतीजी दिखाई दे रही थीं, परन्तु सरस्वतीजी की आड़ में भी कोई और है। सरस्वती ने जो कुछ किया, उसका प्रेरक मूलरूप से कौन है? देवताओं के कहने से सरस्वती ने कैकेयीजी की बुद्धि बदल

दी, यह तो ठीक है, परन्तु आगे देवताओं ने प्रार्थना की कि अब जरा भरत की बुद्धि भी बदल दीजिए, क्योंकि आधा काम करना ठीक नहीं है, काम पूरा कीजिए!

सरस्वतीजी ने देवताओं से कहा कि आप लोगों ने सत्य को ठीक-ठीक पहचाना नहीं, क्योंकि जो कुछ मैंने किया है, यह सब आप लोगों के कहने से नहीं किया, मैंने–

तब किछु कीन्ह राम रुख जानी। २/२१७/३

महर्षि का तात्पर्य यह है कि कैकेयी की आड़ में मन्थरा, मन्थरा की आड़ में सरस्वती और सरस्वती की भी आड़ में हैं सूत्रधार श्रीराम। इसलिए सूत्रधार की दृष्टि से देखा जाए, तब तो श्रीराम को ही सारा दोष देना पड़ेगा। महर्षि ने कहा कि भरत! तुम संकोच मत करो। सूत्रधार ने एक योजना प्रस्तुत की, पर इसका उद्देश्य क्या था? श्रीराम जो कैकेयी की प्रशंसा करते हैं, वह सूत्रधार की दृष्टि है। श्रीराम कहते हैं कि विश्वकल्याण के लिए मैं जिस रूप में घटनाएँ करना चाहता था, उस रूप में वे घटित हुईं। इसलिए सूत्रधार का सत्य वही है, जो श्रीराम ने कहा। लेकिन यदि श्रीभरत, गुरु वसिष्ठ, निषादराज और अयोध्या के नागरिक भी कैकेयीजी के चरित्र को वन्दनीय मान लें, तब तो अनर्थ हो जाएगा। तब तो कैकेयीजी के चरित्र की तरह जो संकेत प्राप्त हो रहे हैं, साधना के सारे सूत्र जो हैं, वे अपने जीवन में हमें प्राप्त नहीं होंगे। इसे हम यों कहें कि प्रारम्भ में जब कैकेयीजी मन्थरा से पूरी तौर से प्रभावित हो जाती हैं तो मन्थरा ने प्रेरित किया कि आप अपने दो वरदानों को माँग लीजिए–

दुइ बरदान भूप सन थाती।
मागहु आजु जुड़ावहु छाती॥ २/२१/५

और साथ-साथ मन्थरा ने कहा कि–

देहु लेहु सब सवति हुलासू। २/२१/६

सौत से बदला लेने का इससे बढ़िया अवसर और नहीं मिलेगा कि सौत के बेटे को चौदह वर्ष के लिए वन भेज दिया जाए। इसके बाद यह कहा कि इस घर में बैठकर तथा इन कपड़ों में दशरथजी से बातचीत मत कीजिएगा। जैसे चेला गुरु के रंग में पूरा रँग जाता है, वैसे ही मन्थरा बन गई गुरु और कैकेयीजी बन गई शिष्या और वे गुरु के पूरे रंग में

रँग गईं। पहले कैकेयी सुन्दर कीमती वस्त्राभूषण पहने हुई थीं, मन्थरा मोटे वस्त्र पहने हुए थी, कैकेयी पलंग पर बैठी हुई थीं और मन्थरा जमीन पर बैठी हुई थी, परन्तु गुरु ने सलाह दी कि जब साधना करनी है तो गुरु का जैसा रूप है, उसी के अनुरूप होकर ही तो साधना करनी चाहिए। मन्थरा बोली कि यह साड़ी बदल दीजिए और मोटे वस्त्र धारण कर लीजिए, गहने सब उतार दीजिए और पलँग पर बैठने से काम नहीं चलेगा, कोपभवन में जाकर बैठिए और वहीं दशरथ से मिलिए! और सचमुच कैकेयीजी ने मन्थरा की सारी बातों को आदर से स्वीकार किया और जब दशरथजी ने जाकर देखा तो वे जमीन पर कोपभवन में पड़ी हुई थीं–

भूमि सयन पटु मोट पुराना।
दिए डारि तन भूषन नाना॥ २/२४/६

मानो मन्थरा ने केवल कौसल्याजी से ही बदला नहीं लिया, मन्थरा ने तो कैकेयीजी से भी बदला लिया। ऐसी बात नहीं है कि मन्थरा कौसल्या की विरोधी थी और कैकेयी की हितैषी थी। वस्तुतः कैकेयी से मन्थरा का बड़ा विचित्र नाता था। कैकेयी की दासी मन्थरा थी और मन्थरा के ऊपर वे दया करती हुई भी दिखाई देती थीं, लेकिन दूसरी ओर कैकेयी मन्थरा की कुरूपता को लक्ष्य करके उस पर व्यंग्य भी करती थीं, उस पर हँसती भी थीं। यह सीखने योग्य बात है।

मन्थरा और कैकेयी के आपस के व्यवहार में बड़ी जटिलता यह है कि एक ओर तो कैकेयीजी उस पर दया दिखाती हैं और दूसरी ओर उसके कूबड़ पर या उसके नाटक पर व्यंग्य करते हुए उसको अपनी हँसी का एक साधन भी बना लेती हैं। प्रारम्भ में जब मन्थरा आँसू बहाती हुई आई तो कैकेयीजी हँसीं कि आज का तुम्हारा यह नाटक भी बहुत अच्छा रहा। तुम बहुत बढ़िया अभिनेत्री हो। मन्थरा के मन में कैकेयीजी के प्रति कृतज्ञता की उतनी वृत्ति नहीं है कि जितनी वृत्ति उसके भीतर यह है कि अवसर पड़ने पर कैकेयीजी से भी बदला लूँगी। जरा गहराई से इस पर विचार करके देखिए। गोस्वामीजी ने एक बड़ा सुन्दर वाक्य लिखा। मन्थरा कैकेयीजी की मित्र है कि शत्रु? गोस्वामीजी का कहना है कि मन्थरा कैकेयीजी की शत्रु है, परन्तु कैकेयीजी का दुर्भाग्य क्या है? गोस्वामीजी ने लिखा–

सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि। २/१६

जो सचमुच वैरी है, उसको कैकेयीजी ने मित्र समझ लिया, यही उनकी सबसे बड़ी भूल थी। इसका अभिप्राय क्या? कि वैर और प्रीति का ऐसा विचित्र विरोधीभाव मन्थरा के मन में है कि आप देख लीजिए, उसने कैकेयीजी को क्षमा थोड़े ही किया। कैकेयीजी ने उसको तुच्छ कह करके, उसकी आलोचना करके, उसको नीचा दिखाकर के बातें कहीं। प्रारम्भ में कैकेयी के मुँह से क्रोध में निकल गया कि–

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी।

अब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥ २/१३/८

यदि ऐसी बात फिर कही तो मैं तेरी जीभ कटवा लूँगी। क्या मन्थरा ने कैकेयीजी के इन शब्दों को बड़े आदर से सुन लिया? क्या बड़ी प्रसन्नता से सुन लिया? उसने कौसल्याजी से धोखा नहीं किया। वह तो उसकी प्रकृति थी। सबको कष्ट देकर के आनन्द की अनुभूति करना, दूसरों की पीड़ा में ही आनन्द की अनुभूति होना और ठीक उसी प्रकृति के अनुसार मन्थरा ने आचरण किया। मन्थरा ने निर्णय कर लिया, मन-ही-मन यह संकल्प किया कि आपने मेरी बड़ी हँसी उड़ाई है और मेरी जीभ कटवाने की धमकी दी है तो मैं भी अगर असली मन्थरा हूँ तो मेरी जीभ ज्यों की त्यों रहेगी, लेकिन आपकी जीभ वही बोलने लगेगी, जो मेरी जीभ बोल रही है। मैं आपको वही कपड़े पहनाकर छोडूँगी, जो मैं पहनती हूँ और सचमुच मन्थरा ने कैकेयीजी को बिल्कुल अपनी तरह बना दिया।

बस्तुतः असद्वृत्तियों का यह स्वभाव है कि वे हमारे जीवन में मित्र बनकर आती हैं, परन्तु हम उन्हें पहचान नहीं पाते और यह समझ लेते हैं कि यह तो असद्वृत्ति है, यह हमारे निकट की वृत्ति है, इसके लिए हमारे हृदय में बड़ा सम्मान है, पर याद रखिएगा कि हमारे अन्तःकरण की जो दुष्प्रवृत्तियाँ होती हैं, उनको हम यदि शत्रु के रूप में पहचान लेंगे, तब तो हम उनकी बुराई से बच जाएँगे, लेकिन यदि कैकेयीजी की तरह पहचानने में भूल करेंगे और उनको मित्र मान लेंगे, जैसा गोस्वामीजी ने दूसरा दृष्टान्त दिया है कि–

सबरी गान मृगी जनु मोही। २/१६/१

प्राचीन काल में शबर जाति का मनुष्य संगीत की कला में एवं वंशी बजाने में बड़ा निपुण था। वह वंशी बजाकर मृगी को मोहित करके अपने पास बुला लेता था और फिर उस संगीत की कला को एक ओर रखकर

बाण के द्वारा उस मृगी को मार डालता था। मन्थरा संगीत की कला को एक ओर रखकर बाण के द्वारा मृगी को मार डालती है। कैकेयीजी मृगी हैं और मन्थरा शबरी। बड़े सुन्दर शब्दों में उसने पहले तो कैकेयीजी की प्रशंसा की–

तुम्हहि न सोचु सोहाग बल निज बस जानहु राउ।

मन मलीन मुह मीठ नृपु राउर सरल सुभाउ॥ २/१७

तुम तो बड़ी भोली हो, बड़ी सीधी हो। सुनकर कैकेयीजी बड़ी प्रसन्न हुईं। तुम तो सबका भला चाहती हो, लेकिन महाराज दशरथ और कौसल्या के मन में क्या बात है? पता नहीं। मैंने देखा है कि जो लोग सड़क पर बैठकर हस्तरेखा देखते हैं, वे यह बात हर व्यक्ति से जरूर कह देते हैं कि आप तो दूसरों का भला चाहते हैं, मगर दूसरे ही आपका बुरा चाहते हैं। आप बहुत अच्छे हैं। इससे व्यक्ति को सचमुच ऐसा लगता है कि शायद हम बहुत भले हैं, हम सर्वश्रेष्ठ हैं। कैकेयीजी यह संकेत क्यों सुन रही हैं? गोस्वामीजी ने कहा–

सबरी गान मृगी जनु मोही। २/१६/१

शबरी के गान पर जैसे मृगी मोहित हो जाए, उसी प्रकार से उसका लक्ष्य बड़ा भीषण है, बड़ा तीव्र है। उसने कैकेयी को मोहित करके बड़े संकट में ढकेल दिया, रामराज्य होते-होते राम को वन भेज दिया, दशरथ जी के प्राण ले लिए, इतना सब अनर्थ मन्थरा ने कैकेयी को प्रभावित करके करा दिया। कैकेयीजी ने वस्त्र बदल लिए, आभूषण बदल लिए और वेश बदल लिए तथा अपने आपको कोपभवन में ढकेल दिया। कोपभवन में जाने का क्या अभिप्राय है? गीता के श्लोक का जो क्रम है, वह क्रम पूरा का पूरा यहाँ घटित होता हुआ दिखाई देता है। भगवान् ने अर्जुन को बताया कि बुराइयों की विशेषता यह है कि जब एक भी बुराई जीवन में आ जाती है तो एक के बाद दूसरी स्वयं आ जाती है। एक बुराई दूसरी बुराई को बुला लेती है। भगवान् कृष्ण ने गीता में उनके क्रम का वर्णन किया, उसी के अनुरूप यहाँ भी कैकेयीजी में परिवर्तन मन्थरा के संग ने किया और गीता में भी परिवर्तन का कारण संग ही बताया गया–

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। गीता-२/६२

संग के द्वारा मनुष्य के अन्तःकरण में कामना उत्पन्न होती है, कामना के बाद क्रोध आता है और फिर क्रोध के बाद सम्मोह आता है–

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ गीता-२/६३

यही पूरा क्रम कैकेयीजी के प्रसंग में दिखाई पड़ता है। गीता की सबसे बढ़िया टीका रामायण है। गीता में जो सत्य संक्षेप में श्लोकों में कहा गया है, वही सत्य रामायण में बड़े विस्तार से भिन्न-भिन्न पात्रों के चरित्र द्वारा पूर्ण किया गया है। उपर्युक्त श्लोक का विस्तार आप कैकेयीचरित्र में देख लीजिए। कैकेयीजी ने मन्थरा का संग किया, मन्थरा ने उनके अन्तःकरण में राज्य की कामना उत्पन्न कर दी और कामना ने उनको कोपभवन में भेज दिया, यह बड़ी मनोवैज्ञानिक बात है कि जिसके मन में कामना आएगी, वह कोपभवन में बैठे बिना नहीं रहेगा। कामना के साथ यह समस्या है कि कितनी भी कामना पूरी हो जाए, लेकिन कुछ-न-कुछ कामना तो अधूरी रह ही जाएगी और ज्यों-ज्यों कामना पूर्ति होती जाती है, त्यों-त्यों हमारी कामनाएँ बढ़ती जाती हैं। यदि कामना पूर्ति होने पर कामना घटती जाए, तब तो जीवन में सन्तोष वृत्ति का उदय होगा, परन्तु जब कामना पूर्ति से कामना और बढ़ती है तो कामना की भूख बहुत बढ़ जाने पर कामना की पूर्ति में बाधा दिखाई देती है, तब वह सोचता है कि किस कारण से मेरी कामना पूर्ण नहीं हो रही है? और तब जिस व्यक्ति को उसका निमित्त मानता है, उसके ऊपर क्रोध आता है। कैकेयीजी को कोपभवन में भेज दिया। इस प्रकार क्रोध आ गया। संग का परिणाम कामना और कामना का परिणाम क्रोध और **क्रोधाद् भवति संमोहः**—सम्मोह क्या है?

सबरी गान मृगी जनु मोही। २/१६/१

रामायण में जहाँ पर मन के रोगों का वर्णन किया गया, वहाँ पर यह कहा गया कि—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। ७/१२०/२६

मोह का अर्थ है कि जानकर भी हमारा आचरण बुद्धि के प्रतिकूल हो। बीमारी क्यों होती है? व्यक्ति यह जानता है कि यह नहीं खाना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए, पर जाने हुए की भी अवहेलना करके व्यक्ति आचरण करता है तो यह सम्मोह है, अर्थात् जानकर के व्यवहार न करना। कैकेयीजी के सन्दर्भ में सम्मोह कितना प्रबल हो गया? **क्रोधाद् भवति संमोहः** का इससे बढ़कर क्या दृष्टान्त होगा? कैकेयीजी मन्थरा के

स्वभाव से परिचित हैं, सब कुछ मन्थरा से कह चुकी हैं कि **वह मलिन है** (२/१३/७), **वह घरफोरी है** (२/१३/८), दुष्ट है। ये सब वाक्य कैकेयीजी ने ही मन्थरा से कहा। मन्थरा को वे पहचानती हैं, लेकिन कितना तीव्र सम्मोह कि जानने के बाद भी मन्थरा से यह कहती हैं कि—

तोहि सम हित न मोर संसारा।
बहे जात कइ भइसि अधारा॥ २/२२/२

फिर यदि मैं तुम्हारी बात नहीं मानूँगी तो भला किसकी बात मानूँगी? यही है सम्मोह। जीवनभर का जितना अनुभव था, सब साफ हो गया। मन्थरा से यदि वे सम्मोहित नहीं होतीं और मन्थरा को जैसा समझती थीं, अगर वैसा ही समझती रहतीं तो अनर्थ न होता। यह सब हुआ सम्मोह के कारण और **संमोहात्स्मृति-विभ्रमः** अर्थात् सम्मोह के बाद होता है, स्मृति विभ्रम; माने अपनी ही बात भूल जाना। कैसे भूल गई कैकेयीजी, देखकर आश्चर्य होता है। जिन राम के प्रेम को कैकेयीजी ने जीवन में इतने वर्षों तक निरन्तर देखा, उनके प्यार का निरन्तर अनुभव किया और यह निर्णय किया कि राम अपनी माता की अपेक्षा भी मुझे अधिक चाहते हैं, परन्तु ऐसा स्मृतिविभ्रम हुआ, वे इस प्रकार सब पुरानी बातें भूल गई कि जो कैकेयीजी की सखियाँ थीं, वे कैकेयीजी से पूछती थीं कि यह आपको क्या हो गया है? अब आप इतनी कैसे बदल गईं?—

कबहुँ न कियहु सवति आरेसू।
प्रीति प्रतीति जान सब देसू॥ २/४८/७

आप इतनी बदल गईं! क्या बात हो गई कि आप केवल राम को ही नहीं, सारी अयोध्या को संकट में डालने के लिए बेचैन हैं? इसका अभिप्राय यह है कि ऐसा स्मृतिविभ्रम कि अपनी ही बातें भूल गई और इसके पश्चात् **स्मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशः** अर्थात् बुद्धिनाश की पराकाष्ठा इस सीमा तक पहुँच गई कि जब महाराज श्रीदशरथ कोप भवन में आते हैं, तब वह बुद्धिनाश पग-पग पर कैकेयीजी के व्यक्तित्व में दिखाई देता है। जो बात कल आपके लिए कही गई थी कि बुराई को बुराई के रूप में समझ लेना एक बहुत बड़ी सफलता है। एक बड़ी बात आप पाएँगे कि कैकेयी ने जितनी बातें दशरथजी से कीं, उनमें उन्होंने सबसे अधिक दुहाई अगर दी तो सत्य और धर्म की तथा सत्य एवं धर्म की नई व्याख्या उन्होंने सीखी मन्थरा से, जो उनकी गुरु बन चुकी है। पूरे प्रसंग में कितनी बार, 'सत्य', 'सत्य' दोहराया

गया कि रामायण में दूसरा कोई ऐसा प्रसंग नहीं आता कि जिसमें सत्य और धर्म को इतनी बार दोहराया गया हो लेकिन सबसे पहले बुद्धि में यह भ्रम हो जाता है कि क्या धर्म है? और क्या अधर्म है? वस्तुतः अधर्म को ही धर्म मान लेना और धर्म को अधर्म मान लेना, यही मन्थरा ने किया। मन्थरा घर में झगड़ा लगा रही है, इतने बड़े अनर्थ की सृष्टि कर रही है तो क्या मन्थरा के मन में यह बात नहीं आई कि मैं जो कुछ कर रही हूँ, यह धर्म के विरुद्ध है? बिल्कुल नहीं आई। मन्थरा ने तो कैकेयीजी से कहा कि मैं जो कुछ कर रही हूँ, इसके पीछे मेरा कोई स्वार्थ है क्या? उसने कहा कि–

कोउ नृप होउ हमहि का हानी। २/१५/६

चाहे राम राजा हों, चाहे भरत राजा हों, मुझे तो कुछ मिलने वाला या हानि-लाभ है नहीं! कैकेयी ने पूछा कि तब तुम इतना कष्ट क्यों कर रही हो? तो उसने कहा कि धर्म की रक्षा के लिए। किस धर्म की रक्षा के लिए? तब कहा कि जिसका नमक खाया है, उसके हित की चिन्ता करें। मुझे तो यही चिन्ता है कि आपका नमक खाती हूँ तो धर्म बचा रहे–

खाइअ पहिरिअ राज तुम्हारें।
सत्य कहें नहिं दोषु हमारें॥ २/१८/४

यह बड़ी विचित्र बात है कि अधर्मी व्यक्ति भी जब दुहाई देगा तो अधर्म की नहीं, धर्म की दुहाई देगा। असत्यवादी भी जब दुहाई देगा, तब सत्य की देगा, असत्य की नहीं। यही सत्य और धर्म की महत्ता है। जैसे नकली नोट चलाने वाला उसको असली के नाम पर ही चला सकता है, उसी प्रकार अधर्मी को भी मालूम है कि धर्म के नाम पर ही अधर्म चलेगा, अधर्म के नाम पर अधर्म नहीं चलेगा। सत्य के नाम पर असत्य भले ही चल जाए, पर असत्य के नाम पर असत्य नहीं चल सकता। इसलिए मन्थरा ने भी सत्य की ही दुहाई दी। मन्थरा ने तो कहा कि मैं तो शास्त्र की आज्ञा का पालन कर रही हूँ। शास्त्र का कथन है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं। तो मैं तो जानती हूँ, उसको अगर मैं न बोलूँ तो शास्त्र की अवहेलना होगी और सत्य की अवज्ञा होगी। मैंने तो सेवाधर्म और सत्यधर्म इन दोनों की रक्षा के लिए ही इतना महान् कष्ट उठाया है।

बुरा से बुरा व्यक्ति भी अपने पक्ष में सत्य प्रस्तुत कर सकता है। इसीलिए तो आगे चल करके जब श्रीभरत ननिहाल से लौटकर आए और

गुरु वसिष्ठ ने श्रीभरत से यह प्रस्ताव किया कि भरत! तुम्हारे पिता ने सत्य के लिए इतना त्याग किया कि उन्होंने राम को वन भेज दिया और राम से वे इतना प्रेम करते थे कि उन्होंने प्राण का परित्याग कर दिया तो तुम भी सत्य की रक्षा करो। पिताजी के एक सत्य की रक्षा तो श्रीराम ने तब की जब वे वन गए और पिताजी के सत्य के दूसरे भाग की रक्षा, अब तुम करो। दूसरा भाग है अयोध्या का राज्य तुम स्वीकार कर लो, तो पिताजी का सत्य पूर्ण हो जाए, पिताजी का सत्य बच जाए।

श्रीभरत ने कहा कि गुरुजी! अगर मैं राजसिंहासन पर बैठ जाऊँगा तो पिताजी की इच्छा पूरी होगी कि मन्थरा और कैकेयी की इच्छा पूरी होगी? यह बताइए कि पिताजी की क्या इच्छा थी? यह सत्य है क्या? जिस सत्य के नाम पर इतनी प्रवंचना की गई। सत्य की वृत्ति का नाम लेकर लोगों के मन में एक दूसरे के प्रति द्वेष की सृष्टि करना, वस्तुतः सत्य नहीं है। यह अकल्याणकारी है। सत्य के नाम पर यह मिथ्या धारणा है। कभी सत्य के नाम पर हमारा अहंकार बोलता है, कभी सत्य के नाम पर हमारी ईर्ष्या बोलती है और हम सत्य के नाम पर इन वृत्तियों को स्वीकार कर लेते हैं, जो मन्थरा में दिखाई दे रही हैं। गुरु वसिष्ठ ने कहा कि भरत तुम राज्य स्वीकार करो, मन्त्रियों ने उनका समर्थन किया, पर जब गुरुजी को लगा कि भरत राज्य स्वीकार नहीं कर रहे हैं, उनको अच्छा नहीं लग रहा है, तब गुरुजी ने कह दिया कि भरत! एक बार तुम राज्य स्वीकार कर लो और श्रीराम के वापस आने पर तुम उनको राज्य वापस कर देना–

सौंपेहु राम के आएँ। २/१७४/८

मन्त्री जरा संसारी थे, उन मन्त्रियों को लगा कि गुरुजी ने यह वाक्य जोड़ दिया कि चौदह वर्ष के बाद राज्य राम को दे देना! पर यदि भरत न देना चाहें तो? इसलिए उन्होंने प्रस्ताव में संशोधन कर दिया कि–

रघुपति आएँ उचित जस तस तब करब बहोरि। २/१७५

तब राम के आने पर आप दोनों निर्णय कर लीजिएगा कि क्या करना है? और वैसा ही कीजिएगा, लेकिन अभी तो आप राज्य स्वीकार कर लीजिए। कौसल्याजी ने भी समर्थन किया। श्रीभरत बोलने के लिए खड़े हुए तो उन्होंने पहला वाक्य यही कहा कि–

गुर पितु मातु स्वामि हित बानी।
सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥

उचित कि अनुचित किएँ बिचारू।
धरमु जाइ सिर पातक भारू॥ २/१७६/२-३

गुरु, पिता और माता की वाणी को बिना बिचारे मान लेना चाहिए। यह वाक्य ज्यों ही भरत के मुख से निकला, अयोध्या के नागरिक समझे कि राज्य स्वीकार करने की भूमिका बाँधी जा रही है। जैसे कोई पद स्वीकार करते समय कहे कि मेरी तो इच्छा नहीं थी, लेकिन जब आप सब आग्रह कर रहे हैं तो इन्कार कैसे करूँ ? हम तो आपकी आज्ञा ही सिरमाथे चढ़ा रहे हैं। श्रीभरतजी ने प्रारम्भ में कुछ ऐसी ही बात कही कि गुरु, पिता एवं माता की बात बिना बिचारे ही मान लेनी चाहिए, परन्तु आगे चलकर देखा यह गया कि उन्होंने उनकी बात नहीं मानी, क्यों? अगर सचमुच वह पिताजी की आज्ञा होती तो मैं मान लेता, परन्तु पिताजी की तो आज्ञा सचमुच यह थी कि श्रीराम को यह सूचना दीजिए कि कल श्रीराम सिंहासन पर बैठेंगे। वस्तुतः पिताजी तो यही चाहते थे कि श्रीराम सिंहासन पर बैठें, लेकिन मन्थरा और कैकेयी ने षड्यन्त्र करके तथा सत्य और धर्म की दुहाई देकर बलात् कहला दिया कि राज्य भरत को दे दो। तो फिर जो पिताजी के मन में था, वह सत्य है? कि कैकेयी और मन्थरा ने जो कहलवा दिया, वह सत्य है? दोनों में से किस बात को मानना धर्म है और किसको मानना अधर्म है?

मन्थरा की जो दृष्टि है, वह तो है सत्य और धर्म की दुहाई और आगे चलकर मन्थरा से दीक्षा ले करके कैकेयीजी ने महाराज श्रीदशरथ से जो बातचीत की तो उन्होंने भी बार-बार यही दुहाई दी। दशरथजी की भाषा में तो शृंगार था, उन्होंने कहा था कि—

बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर॥ २/२५

वे तो प्रसन्न वदन से चेष्टा कर रहे हैं, तब कैकेयीजी ने भूमिका बाँधकर दशरथजी से पूछा कि सबसे बड़ा धर्म कौन-सा है? दशरथजी को लगा कि मैं तो सोच रहा था कि शृंगार का वार्तालाप होगा, मगर यहाँ तो धर्म की व्याख्या प्रारम्भ हो गई, पर धर्म की व्याख्या का उद्देश्य कितना भयानक था? उत्तर में महाराज श्रीदशरथ ने कहा कि सत्य! उन्होंने कहा कि सत्य तो संसार में सबके लिए धर्म है, परन्तु हमारे तो कुल की परम्परा ही यह है कि—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥ २/२७/४

हमारे कुल में तो चाहे प्राण चला जाए, पर बचन नहीं जाने दिया जाता। सत्य से बढ़कर हमारे कुल में कोई वस्तु है ही नहीं। कैकेयीजी ने कहा कि महाराज! बड़ा सुन्दर सुअवसर आ गया है कि आपके कुल का जो सबसे बड़ा धर्म है, उसी का पालन मैं आपसे करवाना चाहती हूँ। आप उसका पालन कीजिए और फिर धर्म की कैसी विकृत व्याख्या कैकेयीजी ने कर दी? जैसे मन्थरा ने अधर्म को धर्म समझ लिया, स्वार्थवृत्ति को सेवावृत्ति मान लिया, निन्दा करने को सत्य मान लिया, उसी प्रकार से कैकेयीजी ने भी जो सत्य की व्याख्या की, वह क्या थी?

कैकेयीजी ने पूछा कि धर्म के कितने चरण हैं? दशरथजी ने कहा कि चार चरण हैं—सत्य, तप, दया और दान। तब कैकेयीजी ने कहा कि जीवन में इनमें से एक को ही पूरा करने का अवसर आता है, पर मैंने तो आपसे ऐसा वरदान माँगा है, जिससे ये चारों पूरे हो जाएँगे। सबसे पहला चरण सत्य है तो जिस समय आप सत्य के लिए इतना बड़ा त्याग करेंगे, तब सत्य का चरण प्रतिष्ठित हो जाएगा। जब राम चौदह वर्ष के लिए वन में जाकर तपस्या करेंगे तो धर्म का दूसरा चरण जो तप है, उसकी भी रक्षा हो जाएगी। धर्म का तीसरा और चौथा चरण दया और दान है तो दया आप मेरे ऊपर कीजिए और दान में राज्य भरत को दे दीजिए। इस प्रकार धर्म के चारों चरण पूरे हो जाएँगे। इस व्याख्या से लगता तो यही है कि धर्म के चारों चरण पूरे हो गए, परन्तु यदि समाज में कोई धर्म की ऐसी व्याख्या करे तो क्या होगा? होता तो यही है। हम लोग भी ऐसा ही करते हैं। कैकेयी और मन्थरा हम लोगों से दूर नहीं है। हम लोग कैकेयी और मन्थरा की आलोचना चाहे कितनी भी करें, परन्तु हम लोगों की सोचने की पद्धति भी वही है कि जो कैकेयी और मन्थरा के जीवन में दिखाई देती है। कैकेयी ने जो कहा, उसका अर्थ क्या हुआ? धर्म के चार चरण सत्य, तपस्या, दया और दान ये तो बिल्कुल ठीक हैं। जैसे गाय के चार चरण होते हैं—दो आगे और दो पीछे। उसी प्रकार से धर्म के जो चार चरण हैं, उनमें निर्णय कीजिए।

स्वार्थी व्यक्ति जब धर्म की व्याख्या करता है तो कहता है कि सत्य और तप धर्म तो हैं, परन्तु सत्य और तप दूसरों के लिए हैं और दया

और दान हमारे लिए हैं। धर्म की यदि ऐसी व्याख्या की जाएगी तो संसार के जितने स्वार्थी लोग हैं, वे तो यही चाहते हैं कि दूसरे लोग सत्यवादी और तपस्वी बनें और हम चाहे जैसे रहें, पर दया और दान हमको मिलता रहे, परन्तु धर्म के इन चारों चरणों के असली स्वरूप को श्रीराम और श्रीभरत ने अपने चरित्र के द्वारा समाज के सामने प्रकट किया। श्रीराम की दृष्टि तो अपनी दृष्टि है। महाराज श्रीदशरथ ने कैकेयी की व्याख्या सुनकर अपना सिर पकड़ लिया। ऐसा बुद्धिनाश कैकेयी का हो गया कि महाराज श्रीदशरथ कह रहे हैं कि मैं अपने प्राण दे दूँगा और प्राण देने की बात सुनकर भी कैकेयी पर असर नहीं पड़ा। महाराज श्रीदशरथ ने तो यहाँ तक कह दिया–

गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी।
जनि दिनकर कुल होसि कुठारी॥
मागु माथ अबहीं देउँ तोही।
राम बिरहँ जनि मारसि मोही॥ २/३३/६-७

आप यदि सिर माँगें तो मैं सिर देने के लिए प्रस्तुत हूँ, परन्तु आप मुझे राम के वियोग में मत मारिए! लेकिन कैकेयीजी इतनी निष्ठुर हो गई कि उन्होंने धर्म की अपनी व्याख्या को ही स्वीकार किया, लेकिन पति की बात नहीं मानी। इसीलिए श्रीभरत जब लौट करके आए और तीनों माताएँ जब दशरथजी के साथ सती होने के लिए चलीं तो गुरु वसिष्ठ ने तो धर्म की मान्यता के अनुकूल उनको रोका नहीं, आदेश दे दिया, लेकिन श्रीभरत आगे आए और रोका।

श्रीभरत का अध्यात्म और भी सूक्ष्म है। जो धर्म का सच्चा स्वरूप है। जिस धर्म की विकृत व्याख्या के कारण मन्थरा और कैकेयी ने इतना अनर्थ किया, उस धर्म की जो सच्ची व्याख्या थी, उसको अपने व्यक्तित्व के द्वारा प्रकट कर दिया। भरतजी ने आकर कौसल्याजी के चरण पकड़ लिए और कहा कि आप सती होने जा रही हैं! इससे आपको सन्तोष तो भले ही मिल जाए, परन्तु आप तो मुझको अपना ही पुत्र मानती हैं और आपको मेरे सुख की सदैव चिन्ता बनी रहती है। मेरे कारण कितने अनर्थ हुए! मेरे कारण प्रभु वन गए, पिताजी के प्राण चले गए। इन सबका मूल कारण मैं हूँ और जब आप भी प्राण दे देंगी तो इसका अर्थ है कि भरत के कारण ऐसी परिस्थिति आ गई कि अन्त में कौसल्या माँ

को भी अपने प्राण देने पड़े। मेरे सिर पर पिता के प्राण लेने का कलंक और पाप का बोझ तो है ही, तो माँ! क्या आप मेरे बोझ को हल्का करना चाहेंगी या मेरे ऊपर कलंक का और बोझ लाद देंगी? तब माँ ने कहा कि अच्छा भरत! तुम जो बात कहते हो मैं उसे स्वीकार करती हूँ और मैं जीवित रहने की चेष्टा करूँगी तथा श्रीराम के लौटने की प्रतीक्षा करूँगी। तुम्हारे अन्तःकरण में जो संकल्प है, उसकी पूर्ति में मैं सहयोग दूँगी। फिर श्रीभरत ने सुमित्रा अम्बा के चरणों को पकड़कर कहा कि माँ क्या आप सती होना चाहती हैं? धर्म की दृष्टि से सती होने का बड़ा महत्त्व बताया गया है, लेकिन आप तो उससे ऊपर हैं। आपने अपने पुत्र को शरीर की दृष्टि से ऊपर उठा करके दीक्षा दे दी कि–

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता रामु सब भाँति सनेही॥ २/७३/२

राम ही सब कुछ हैं। जीवन में पातिव्रत धर्म का भी चरम फल तो ईश्वर की प्राप्ति ही है और राम को आप साक्षात् ईश्वर के रूप में जानती हैं तथा अपने पुत्र को आपने उनकी सेवा के लिए भेज दिया एवं उस महान् धर्म को छोड़ करके आज आप एक साधारण धर्म का पालन करने जा रही हैं। मुझे तो नहीं लगता है कि यह आपके अनुकूल होगा। सुमित्रा अम्बा ने भी तत्काल श्रीभरत की बात को स्वीकार कर लिया, पर श्रीभरत जब कैकेयीजी के पास गए तो आश्चर्य से मुँह देखने लगे। कुछ देर तो श्रीभरत बोले ही नहीं। कैकेयीजी ने जिज्ञासा भरी दृष्टि से भरत को देखा।

श्रीभरत को आश्चर्य हो रहा है कि कैकेयीजी भी सती होना चाहती हैं! धर्म का बड़ा विचित्र अर्थ उन्होंने लिया। क्या? पहले तो वरदान माँगकर स्वयं अपना प्राण बचाने की चेष्टा की और अब स्वयं अपना प्राण देने के लिए प्रस्तुत हैं। क्या धर्म का यही रूप है? कोई स्त्री पति के कल्याण के लिए हरतालिका का व्रत करे और पति से खूब झगड़ा करके पति को घर से निकाल बाहर करे तथा यह कहे कि मैं तो पति की रक्षा के लिए महान् पतिधर्म का पालन कर रही हूँ तो इससे बढ़ करके अधर्म क्या होगा? क्या जीते जी धर्म का पालन किया जाए।

कबीरदासजी ने किसी पर व्यंग्य किया, उनको पता चला कि अमुक व्यक्ति पिता की हड्डी लेकर त्रिवेणी-प्रयाग या हरिद्वार जा रहे हैं। कबीर को पता था कि अपने पिता से, जब तक वे जीवित थे, सदा लड़ते ही

रहते थे। तब उन्होंने कहा कि वाह! इससे बढ़कर धर्म क्या होगा कि—

जियत बाप से दंगम दंगा।
मरे हाड़ पहुँचाएँ गंगा॥

जब तक पिताजी जीवित रहे, उनके साथ दंगा करते रहे और मरने पर हाड़ गंगाजी पहुँचाकर श्रद्धा दिखला रहे हैं। अरे! श्राद्ध तो मरने के बाद किया जाता है, परन्तु श्रद्धा तो जीवन में की जाती है। यदि जीवनकाल में श्रद्धा नहीं है तो मरने के बाद श्राद्ध की क्या आवश्यकता है? अरे! यह तो कैकेयी के हाथ में था कि महाराज दशरथ के प्राण न जाते, परन्तु कैकेयीजी ने दशरथ के प्राण तो जाने दिए और उसके पश्चात् सती होने की चेष्टा कर रही हैं। मानो कैकेयी की वृत्ति क्या थी? जब कैकेयीजी के प्रति समाज में बड़ी विपरीत भावना फैल गई और श्रीभरत ने बोलना बन्द कर दिया, **'माँ'** कहना बन्द कर दिया, तब कैकेयीजी के मन में बड़ा क्षोभ हुआ और उनके मन में स्वयं यह भावना जगी कि मैं अब अपना कलंक कैसे धोऊँ? तब उनको ऐसा लगा कि जो स्त्रियाँ पति के साथ सती हो जाती हैं, उनकी समाज में बड़ी पूजा होती है और लोग उनको बड़ा सम्मान देते हैं। यदि मैं सती हो जाऊँगी तो लोग मेरे पुराने कलंक को भूल जाएँगे और लोग मेरी भी पूजा करने लगेंगे।

सती होने की भावना के पीछे यदि पति से सच्चा प्रेम होता, तब तो महाराज श्रीदशरथ ने जब चरणों पर सिर रख दिया था, तब वे उनकी बात मान जातीं, परन्तु जो भावना और उद्देश्य लेकर वे सती होने चलीं थीं, तब धर्म का वही अर्थ अर्थात् क्रिया का बहिरंग रूप ही था। धर्म का एक पक्ष बहिरंग क्रिया है और धर्म का दूसरा पक्ष क्रिया के पीछे भाव है, उद्देश्य है, जैसे शरीर और प्राण हैं। शरीर का महत्त्व है, लेकिन तभी तक जब तक शरीर में प्राण सक्रिय हों। अगर प्राण ही न हों तो शरीर का क्या महत्त्व है? सती होने के पीछे जो त्याग की भावना है और पति के प्रति इतना प्रेम कि वियोग में एक क्षण के लिए जीवन असम्भव लग रहा है, यह वृत्ति है, तब तो ठीक है, लेकिन यदि पूजा पाने की वृत्ति से या अपना कलंक मिटाने की वृत्ति से सती होने की इच्छा की तो कैकेयीजी ने फिर वही भूल दोहराई, लेकिन श्रीभरतजी ने कैकेयीजी को यह भूल नहीं करने दी।

भरतजी ने कैकेयीजी से कहा कि वे दो माताएँ सती होना चाहती

हैं, यह तो मैं समझ गया, लेकिन आप क्यों सती होना चाहती हैं? यह मेरी बुद्धि से परे है। जो कुछ हुआ, सब आपके कारण हुआ। इसलिए आप किस बात पर दुःखी हो रही हैं? और एक दूसरी बात भरतजी ने यही कही कि इसका अन्तिम परिणाम क्या होगा, आपने सोचा? श्रीभरत ने कठोर आक्षेप करते हुए कैकेयीजी से कहा कि शास्त्रों का कथन है कि जो स्त्री सती होती है, वह पति के लोक में जाती है। तो अब महाराज दशरथ को और कष्ट देना बाकी है क्या? जिसके लिए उनके पास परलोक में भी जाना चाहती हैं। श्रीदशरथ के जीवन में आया है कि वे कैकेयीजी के महल से निकलकर कौसल्याजी के महल में चले गए।

इसका आध्यात्मिक अभिप्राय यह है कि महाराज श्रीदशरथ मूर्तिमान् वेद हैं। वे पहले कैकेयीजी से बहुत प्रेम करते थे, परन्तु अन्त में जब कैकेयीजी का स्वरूप सामने आया, तब उनके अन्तःकरण में कैकेयी के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे कैकेयीजी के भवन का परित्याग करके कौसल्याजी के भवन में चले गए। कैकेयी क्रियामयी हैं और कौसल्याजी ज्ञानमयी हैं। वेद का जब प्रारम्भ होता है तो क्रिया से या कर्मकाण्ड से होता है, लेकिन कर्मकाण्ड का उद्देश्य अन्त में क्रिया में नहीं है। सकाम क्रिया के स्थान पर निष्कामता और वैराग्य में है—

धर्म तें बिरति। ३/१५/१

धर्म का अन्तिम फल केवल स्वर्ग और भोगों की प्राप्ति नहीं है, धर्म का अन्तिम फल वैराग्य है। धर्म से अन्त में वैराग्य होना चाहिए। मनु के रूप में भी महाराज श्रीदशरथ ने जरूर साधना की, लेकिन वैराग्य नहीं आया और दशरथ के रूप में जब जन्म लिया, तब भी वैराग्य नहीं आया। कैकेयीजी के रूप में क्रिया के प्रति आसक्ति महाराज श्रीदशरथ के जीवन में बनी रही, परन्तु वेद का अन्तिम फल क्या है? उपनिषद् अर्थात् वेदान्त के द्वारा वैराग्य की सृष्टि करके जीव के अन्तःकरण में ज्ञान का संचार करना, वेदों का अन्तिम लक्ष्य है। अन्त में दशरथजी की कैकेयीजी में जो आसक्ति थी, वह छूट गई। कैकेयी के प्रति आसक्ति छूटने का अभिप्राय यह है कि धर्म के लिए क्रिया के प्रति उनके मन में आकर्षण था—

बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर॥ २/२५

पहले तो वे **सुमुखि** हैं, **सुलोचनि** हैं, **पिकवचनि** हैं, **गजगामिनि** हैं, पर बाद में दशरथजी को लगा कि सब उलट गया। अब कैकेयीजी सुमुखि नहीं हैं, अब कौन हैं?–

लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे।
मगहँ गयादिक तीरथ जैसे॥ २/४२/७

और सुलोचनि के स्थान पर कैकेयीजी क्या हो गईं, महाराज दशरथ को कैसी लग रही हैं?–

मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी। २/५०/१

जैसे कोई भूखी बाघिनी किसी शिकार को देख रही हो, वैसे आँखों में क्रूरता आ गई और पिकवचनि के स्थान पर, मीठे वचन के स्थान पर महाराज श्रीदशरथ ने सिर पकड़ लिया और आँखों में आँसू भर करके कहा–

भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति बचनु भयंकरु बाजु। २/२८

जैसे बाज पक्षी के द्वारा कोई भीलनी पक्षी का शिकार कर रही हो। मानो कैकेयी के स्वरूप में अन्तर प्रेम की भूमिका थी, जब धर्म की प्रतिकूलता दिखाई पड़ी, तो जिस क्रिया के प्रति उनके मन में इतनी आसक्ति थी, उसका उन्होंने परित्याग कर दिया और कौसल्याजी के भवन में चले गए। मानो वेद का भी अन्तिम फल त्याग की प्राप्ति है। इसलिए कौसल्या के भवन में जाना श्रीदशरथजी के जीवन की चरम प्राप्ति थी।

श्रीभरत ने उनको आध्यात्मिक अर्थों में भी और वैसे भी यही कहा कि महाराज श्रीदशरथ ने जब जीवन काल में ही आपका मुख देखना बन्द कर दिया और आपका परित्याग करके चले गए तो आप अब सती होने पर इस शरीर का परित्याग करके उनके लोक में पहुँच जाएँगी और वे जब आपको देखेंगे तो आप उनको कितना बड़ा कष्ट देंगी? इस पर विचार करिए। कैकेयीजी ने व्याकुल होकर सोचा कि अब मैं क्या करूँ? तब श्रीभरत की ओर जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखा। श्रीभरत ने बहुत बढ़िया बात कही कि आप अग्नि में तो जलना चाहती हैं, परन्तु अग्नि में जलकर भी न तो पिताजी का कल्याण करेंगी और न अपना कल्याण करेंगी। मैं जानता हूँ, सचमुच आप विश्वास मानिए अग्नि में जलकर भी आपके सारे पाप और सारे कर्म आपके साथ जाएँगे।

श्रीभरतजी ने कहा कि आपसे जो भूल हो चुकी है, उसके लिए

प्रायश्चित्त की अग्नि में अपने आपको जलाइए। आप अनुभव कीजिए कि रामराज्य में मैंने इतनी बाधा की है। आपके हृदय में पश्चात्ताप की अग्नि जब जलेगी और लोग यह अनुभव करेंगे कि आपको अपनी भूल का भान हो गया है और आगे चल करके श्रीराम को लौटा करके जब आप उनको सिंहासन पर बैठा देंगी तो उसको देख करके पिताजी की आत्मा प्रसन्न होगी कि चलो! कैकेयीजी ने पहले कुछ भी किया हो, पर अन्त में रामराज्य बना दिया। अयोध्या के नागरिक भी प्रसन्न हो जाएँगे, मैं भी प्रसन्न हो जाऊँगा और आपके जीवन में भी श्लाघनीय सती धर्म की प्रतिष्ठा हो जाएगी। अतः आपकी बुद्धि में जो विभ्रम आ गया था, अन्त में आपने उसको पश्चात्ताप की अग्नि में जला करके शुद्ध बना दिया।

इस प्रकार से कैकेयी और मन्थरा के अन्तःकरण में जो धर्म की विकृति आ गई थी, उसको उन्हीं के पुत्र श्रीभरत ने अपने व्यक्तित्व के द्वारा बदल दिया। भगवान् राम की जो प्रशंसा है, वह सूत्रधार की प्रशंसा है, परन्तु साधना क्रम की दृष्टि से, जहाँ हमें साधनाक्रम सीखना है तो यह जानना होगा कि किस तरह से कैकेयीजी के जीवन में धर्म की विकृत व्याख्या आई? धर्म की यह विकृत व्याख्या हमारे जीवन में आएगी तो अकल्याणकारी ही होगी। फिर श्रीभरत के द्वारा किस तरह से क्रिया दोषों को दूर किया जाता है, इसकी चर्चा अगले प्रवचन में की जाएगी।

□□

॥श्रीरामः शरणं मम॥

अष्टम प्रवचन

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ २/९१
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८

कैकेयी अम्बा के चरित्र को निन्दनीय क्यों कहा गया? इसके पक्ष में विगत सात प्रवचनों से हम विचार कर रहे हैं, लेकिन कैकेयी अम्बा अन्ततोगत्वा वन्दनीय भी हैं, इस पक्ष को हमें नहीं भूलना चाहिए। आज के प्रवचन में कैकेयी अम्बा के चरित्र में जो वन्दनीयता का पक्ष है, उसके सन्दर्भ में कुछ बातें रखी जाएँगी।

यदि कैकेयी के चरित्र में घटित होने वाले घटनाक्रम पर विचार करें तो ऐसा लगता है कि कैकेयीजी की भूमिका अत्यन्त कठोर है और उन्होंने महाराज श्रीदशरथ के पवित्र संकल्प में बाधा उपस्थित की। उन्होंने रामराज्य नहीं बनने दिया और घटनाओं से भी बहिरंग रूप में ऐसा ही प्रतीत होता है, लेकिन इन घटनाओं का एक दूसरा पक्ष भी है। घटनाओं के इस दूसरे पक्ष की ओर भगवान् श्रीराम ध्यान आकृष्ट करते हैं। भगवान् श्रीराम उन घटनाओं को किस दृष्टि से देखते हैं? यही विचारणीय है। क्योंकि महाराज श्रीदशरथ जब कैकेयी को मनाकर थक जाते हैं और कैकेयी निष्ठुरता की मूर्ति बन गईं, उनकी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया तो दशरथ मूर्च्छित हो जाते हैं, प्रातःकाल वे चैतन्य नहीं हो पाते, वहाँ सुमन्त्रजी और अन्य लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि महाराज तो ब्राह्ममुहूर्त में ही नित्य जग जाने के अभ्यस्त हैं, आज सूर्योदय हो जाने के बाद भी वे चैतन्य नहीं हुए, इसका क्या कारण है?

लोगों ने सुमन्त्रजी से अनुरोध किया कि वे जा करके पता लगाएँ। सुमन्त्रजी जब महाराज दशरथ के पास पहुँचते हैं तो वहाँ का दृश्य देखकर घबरा जाते हैं, क्योंकि महाराज श्रीदशरथ मूर्च्छित पड़े हुए हैं और कैकेयीजी की आँखों में क्रोध और हिंसा की भावना विद्यमान है। सुमन्त्रजी महारानीजी से पूछते हैं कि महाराज के इस दुःख का क्या कारण है? कैकेयीजी ने कहा कि पहले तुम राम को बुलाकर ले आओ, तब उसके पश्चात् मैं बताऊँगी कि क्या घटनाएँ यहाँ घटी हैं। यहाँ पर–

आनहु रामहि बेगि बोलाई।
समाचार तब पूँछेहु आई॥ २/३८/१

एक बड़ी विचित्र-सी बात सामने आती है और वह यह है कि कैकेयीजी ने सीधे यह समाचार सुमन्त्रजी को नहीं बताया। न बताने में कैकेयीजी का उद्देश्य क्या था? और जब उन्होंने श्रीराम को बुलाकर लाने की आज्ञा दी तो उनके अन्तर्मन में जो भावना विद्यमान थी, वह बड़ी विचित्र थी। इतना सब कुछ हो जाने के बाद भी, श्रीराम के प्रतिकूल इस प्रकार वरदान माँगने के बाद भी, कैकेयी अम्बा के मन में कहीं न कहीं एक बात बड़ी गहराई से बैठी हुई थी। गहराई में उनके विश्वास के साथ-साथ एक विचित्र प्रकार का विश्वास है, वही इन शब्दों में बोल रहा है।

महारानी कैकेयी को ऐसा लगा कि यदि सुमन्त्रजी को मैं ये बातें बताऊँगी तो ये महामन्त्री हैं और बड़े चतुर राजनीतिज्ञ हैं, पता नहीं, ये मेरे मार्ग में कौन-सी बाधा उत्पन्न कर दें? हो सकता है कि ये एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दें कि जिससे मेरे दोनों वरदानों की पूर्ति न हो सके, परन्तु बड़ी विचित्र बात है कि जब उन्होंने राम को बुलाने के लिए कहा तो, इतना सब हो जाने के बाद भी कहीं-न-कहीं उनके मन में, यह विश्वास था कि राम मेरे कहने पर वन चले जाएँगे। संशय तो उनके जीवन में दिखाई ही देता है, परन्तु संशय के साथ-साथ राम के प्रति विश्वास भी है कि मैं राम के प्रति चाहे जितनी निष्ठुर हो जाऊँ! भले ही मैं राम को वन जाने की आज्ञा दे रही हूँ! परन्तु राम के शील पर कहीं न कहीं मेरे मन में विश्वास है। इसी शील पर विश्वास से प्रेरित होकर वे कहती हैं कि तुम पहले राम को बुलाकर ले आओ। तब मैं कुछ बताऊँगी। सुमन्त्रजी जाते हैं और श्रीराम को बुलाकर ले आते हैं।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने जब कोपभवन का दृश्य देखा तो वे मानवीय

लीला में यह कल्पना करने लगे कि कोई न कोई ऐसी घटना घटित हुई है कि जिससे आज राज्याभिषेक की घड़ी टलने वाली है, राज्याभिषेक नहीं होने वाला है। श्रीराम ने माँ और दशरथजी, दोनों के चरणों में प्रणाम किया और फिर माँ से पूछा और निवेदन किया कि पिताजी तो बड़े धैर्यशाली हैं, इस समय ये दुःखित और मूर्च्छित जैसे प्रतीत हो रहे हैं, इसका कारण मुझे बताएँ, जिससे मैं उसका निवारण कर सकूँ? पिताजी मुझसे नहीं बोल रहे हैं, इसका कारण यह तो नहीं है कि पिताजी मेरे किसी अपराध से रुष्ट हैं? कैकेयी ने अपनी भूमिका प्रारम्भ की। इस भूमिका में सरलता तो नहीं है, उसकी चतुराई दिखाई दे रही है, उन्होंने श्रीराम से यह कहा कि–

तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। २/४२/३

राम! तुम्हारे द्वारा भला कोई अपराध हो सकता है? उसके साथ-साथ उन्होंने श्रीराम की प्रशंसा की, स्वयं उनको अपनी प्रशंसा प्रिय लगी, इसलिए उसने सोचा कि राम को भी अपनी प्रशंसा प्रिय लगेगी। व्यक्ति का यह स्वभाव है कि वह अपना ही प्रतिबिम्ब दूसरे को भी मानता है। कैकेयीजी को ऐसा लगा कि यदि राम से कार्य लेना है तो राम की भी प्रशंसा करनी चाहिए और प्रशंसा भी समयानुकूल होनी चाहिए। यदि किसी को युद्ध में भेजना हो और उसकी यह कहकर प्रशंसा की जाए कि आप तो बड़े भारी दानी हैं तो यह बेतुकी प्रशंसा हो जाएगी। हम यदि उससे यह कहें कि आपको शरीर-प्राण से मोह नहीं है, आप बड़े वीर हैं और आप युद्ध में जाइए तो यह प्रशंसा सार्थक है। किसी से कुछ लेना है और हम यह कहकर प्रशंसा करें कि आप तो बड़े उदार और दानी हैं तो यह सार्थक है। कैकेयीजी ने जो भूमिका बाँधी, वह बड़ी चतुराई की भूमिका है। प्रशंसा के द्वारा वे श्रीराम से कार्य लेना चाहती हैं। उन्होंने यह प्रशंसा की कि–

तुम अपराध जोगु नहिं ताता। २/४२/३

इसका अभिप्राय यह है कि मैं ऐसी प्रशंसा कर दूँ कि यदि राम 'नहीं' भी करना चाहें तो 'नहीं' न कर पाएँ और उसके साथ-साथ राम के लिए विशेषण जोड़ दिया–

जननी जनक बंधु सुखदाता। २/४२/३

तुम तो माता, पिता और भाई को सुख देने के अभ्यस्त हो। तात्पर्य यह

है कि यदि तुम जननी को प्रसन्न करने वाले हो तो मेरी बात मान लो, पिताजी को प्रसन्न करने का तुम्हारा व्रत है तो पिताजी के संकट में उनके सत्य की रक्षा करो और यदि तुम भाई को सुख देने वाले हो तो अपने छोटे भाई के लिए राज्य छोड़ दो। वस्तुतः तुम्हारी जो विशेषताएँ हैं, वे आज कसौटी पर हैं, पर मुझे विश्वास है कि तुम उस पर खरे उतरोगे। मैं तो तुम्हें ऐसा मानती हूँ। बस राम! केवल समस्या यह है कि महाराजश्री ने मुझे दो वरदान कभी माँग लेने का प्रस्ताव दिया था और जो मुझे प्रिय लगा, वे दो वरदान मैंने माँग लिये। उन दो वरदानों को सुनकर ही महाराजश्री की यह विचित्र दशा हो गई है। इस समय वे बड़े धर्मसंकट में हैं और तुम यदि चाहो तो इस धर्मसंकट से उनका उद्धार कर सकते हो। मैंने भरत के लिए राज्य और तुम्हारे लिए चौदह वर्ष का वनवास माँगा है। क्या तुम इसे स्वीकार करके पिताजी की समस्या का समाधान करोगे?

कैकेयीजी के मन में एक विचित्र अन्तर्द्वन्द्व था। एक ओर वे प्रशंसा भी कर रही थीं और दूसरी ओर कहीं न कहीं उनके मन में यह धारणा भी थी कि राम मेरी बात नहीं टालेंगे। फिर भी मानवीय स्वभाव के अनुसार कहीं-न-कहीं यह भी आशंका बड़ी तीव्र थी कि मैंने जो वरदान माँगा है, वह सचमुच इतना कठिन है कि क्या राम इसे सरलता से पूरा कर सकेंगे? उनके मन में इतना तो निश्चित ही था कि इसको सुनकर राम के मुख पर दुःख और विवशता का चिह्न तो अवश्य आएगा, लेकिन कैकेयीजी ये देखकर आश्चर्यचकित रह गई कि उनकी बात सुनकर, भगवान् श्रीराघवेन्द्र के होंठों पर हँसी फूट पड़ी। राम मुस्कराने लगे, यद्यपि सारा वातावरण आँसुओं से ओत-प्रोत था, पर भगवान् राम के होंठों पर हँसी थी। उन्होंने माँ से हँसकर कहा–

मन मुसुकाइ भानुकुल भानू। २/४०/५

गोस्वामीजी ने भी राम का बड़ा सार्थक नाम लिया कि राम सूर्यवंश के सूर्य हैं। इस उपाधि के पीछे एक विशेष कारण है। इसके पहले श्रीराम को अन्य दो उपाधियाँ भी दी गई और उन उपाधियों के द्वारा इन घटनाओं की राम के चरित्र पर क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका संकेत दिया गया है। जिस समय सुमन्त्रजी के साथ राम कैकेयीजी के महल की ओर जा रहे थे, उस समय उनके लिए गोस्वामीजी ने कहा कि–

रघुकुलदीपहि चलेउ लेवाई। २/३८/७

जो रघुकुल के दीपक श्रीराम हैं, उनको लेकर सुमन्त्रजी जा रहे हैं। जो व्यक्ति अपने वंश की कीर्ति को उज्ज्वल करता है, प्रकाशित करता है, उसको **'वंश के दीपक हैं'**, ऐसा कह करके प्रशंसा की जाती है, इसलिए राम को रघुकुलदीपक कहा गया। दीपक प्रकाश तो करता है, परन्तु दीपक के साथ कुछ समस्याएँ भी हैं। जब तक तेल या घी और बत्ती अथवा उसको जलाने की शक्ति न मिले, तब तक दीपक नहीं जलेगा, दीपक में अपना प्रकाश नहीं है। संसार के अधिकांश व्यक्तियों में जो प्रकाश है, वह सचमुच दीपक की तरह है। जैसे दीपक को जलने के लिए तेल या घी चाहिए, वैसे ही लोगों की चमक के लिए धन, बुद्धि या बल, कोई न कोई प्रेरक चाहिए, लेकिन यहाँ तो राम का पद छिनने वाला है तो ऐसा लगेगा कि दीपक जल रहा है, लेकिन किसी अचानक आँधी से या हवा के झोंके से दीपक बुझ गया, लेकिन श्रीराम की प्रतिक्रिया क्या हुई?

राम जब जा रहे थे, तब रघुकुल दीपक थे, लेकिन जब वे वहाँ पहुँचे और पहुँचने पर उनको लगा कि राज्याभिषेक में कोई बाधा पड़ने वाली है तो दीपक का प्रकाश बुझ गया कि नहीं? श्रीराम का मुख म्लान हुआ कि नहीं? साधारणतया जब पद मिलते-मिलते यह समाचार मिले कि अब पद नहीं मिलेगा तो व्यक्ति के मुख पर उदासी के भाव आए बिना नहीं रहेंगे, परन्तु गोस्वामीजी ने सोचा कि श्रीराम के लिए मैंने **'रघुकुल दीपक'** शब्द कहा था, वह उनके लिए सार्थक शब्द नहीं है। तब उनके लिए कहा कि ये तो रघुवंश के मणि हैं–

जाइ दीख रघुबंस मनि। २/३६

दीपक में भी प्रकाश है और मणि में भी प्रकाश है, परन्तु अन्तर यह है कि मणि के लिए तेल या घी की आवश्यकता नहीं है, परन्तु दीपक के लिए तेल या घी की आवश्यकता है। जो पद पा करके चमके, बड़ा बने, वह दीपक है, लेकिन जिसकी चमक के लिए किसी बहिरंग वस्तु की आवश्यकता नहीं है, वह वस्तुतः दीपक नहीं है, वह तो मणि है। श्रीराम को बड़ी प्रसन्नता हुई कि चलो, इस झंझट से मुक्ति मिली और बाद में जब कैकेयीजी ने स्पष्ट कर दिया कि तुम्हें वन जाना है और भरत को राज्य मिलना है तो अब राम की उपाधि क्या है? अब राम के लिए न तो दीपक कहना ठीक है और न मणि कहना ठीक है, अब तो गोस्वामी ने कहा कि–

मन मुसुकाइ भानुकुल भानू। २/४६/५

फिर तो वे सूर्यकुल के सूर्य बन गए। मणि का प्रकाश एक छोटे से सीमित स्थान पर होता है, परन्तु सूर्य निकलता है तो सारे संसार का अन्धकार दूर कर देता है। राम को लगा कि कैकेयी माँ मुझसे कितना प्रेम करती हैं कि मैं अयोध्या का राजा हो जाता तो केवल यहीं प्रकाश फैलाता, पर सारे विश्व में मेरा प्रकाश फैलाने के लिए ही मेरी माँ ने यह योजना बनाई है। फिर इससे बढ़ करके प्रसन्नता की बात और क्या होगी? राम ने कैकेयीजी की बड़ी भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि तुमने आज इतना बढ़िया वरदान माँगा है कि आज तो मैं तुमको अपनी माँ नहीं, बल्कि बार-बार यह कहूँगा कि तुम तो मेरी जननी हो–

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी।
जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा।
दुर्लभ जननि सकल संसारा॥ २/४०/७-८

श्रीराम कैकेयीजी के लिए बार-बार जननी शब्द का प्रयोग करते हैं। शरीर की दृष्टि से कैकेयी श्रीराम की जननी नहीं हैं, क्योंकि जिसके गर्भ से जन्म होता है, वह जननी है और अन्य के लिए माँ शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, पर जननी का नहीं। राम का कहना है कि मैं दावे के साथ कहता हूँ कि मेरी जननी कैकेयी हैं। क्यों? राम ने कहा कि प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया और वह यह है कि बालक जब बड़ा हो जाता है और बोलने लगता है तो उसकी भाषा सब समझ लेते हैं, पर जब बालक के पास बोलने की शक्ति नहीं होती, केवल रोता है, तब उस बालक की इच्छा को और उसकी आवश्यकता को जो उसकी जननी है, वही समझ पाती है और उसे पूरा कर देती है। सिद्ध हो गया कि तुम मेरी जननी हो। मेरे मन में एक इच्छा थी, पर मैं डर के मारे किसी से कह नहीं पाया। जब वसिष्ठजी से राम को अपने राज्याभिषेक का समाचार मिला तो राम सहम गए, चुप हो गए, बोले नहीं, क्योंकि पिताजी ने सन्देश भेजा है, गुरुजी कह रहे हैं, मैं कैसे इसका खण्डन करूँ? लेकिन जब गुरुजी चले गए तो राम व्याकुल हो गए और कहा कि–

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई॥

करनवेध उपवीत बिआहा।
संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥ २/६/६-८

श्रीराम पश्चात्ताप कर रहे हैं, पर किसी से नहीं कह पा रहे हैं। कौसल्याजी भी प्रसन्न हैं कि कल श्रीराम को राज्य मिलने वाला है, दशरथजी योजना बनाए हुए हैं कि कल राम को सिंहासन पर बैठाऊँगा, गुरुजी प्रसन्न हैं कि कल मैं राम को राजतिलक करूँगा, अयोध्या के नागरिक आनन्द के उल्लास में नगर सजा रहे हैं। भगवान् ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्न हो रहा था, पर मेरी आकांक्षा को किसी ने नहीं जाना, लेकिन आज जब तुमने यह कहा कि राज्य भरत को मिलेगा तो मैं यह समझ गया कि मेरी जननी तो तुम्हीं हो, क्योंकि मैं कुछ भी नहीं कह पाया और तुमने बिना कहे ही मेरी बात को सुन लिया, समझ लिया और उसे पूरा करने की योजना बना दी। इससे सिद्ध हो जाता है कि शारीरिक दृष्टि से भले ही कौसल्याजी मेरी जननी हों, फिर भी वे मेरे हृदय की भावना को नहीं समझ पाईं। मेरा सुख किसमें है? यह नहीं समझ पाईं, पर तुमने समझ लिया, इसलिए मैं कहूँगा कि तुम मेरी जननी हो और आगे प्रशंसा करते हुए कहा कि तुमने तो इतना अच्छा वरदान माँगा है कि अगर कोई व्यक्ति इतना मूर्ख हो कि वह कल्पतरु को छोड़कर रेंड़ के वृक्ष को महत्त्व दे और अमृत को छोड़ करके विष को पिये तो मुझे विश्वास है कि ऐसे मूर्ख के सामने भी यदि ऐसा प्रस्ताव रखा जाए तो यह स्वीकार किए बिना नहीं रहेगा–

सेवहिं अँरडु कलपतरु त्यागी।
परिहरि अमृत लेहिं बिष मागी॥
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं।
देखु बिचारि मातु मन माहीं॥ २/४१/३-४

तुम विचार करके देखो। राम ने तारीफ करते हुए कहा कि माँ! तुम्हारा एक वरदान तो कल्पतरु है और दूसरा वरदान अमृत है। मैं तो समझता हूँ कि इनसे बढ़कर उत्कृष्ट वरदान और नहीं हो सकता। माँ! तुमने भरत के लिए राज्य माँगा, यह तो कल्पतरु की बात हो गई। कल्पतरु के नीचे जाकर जो वरदान माँगो, उसे कल्पतरु पूरा कर देता

है। अयोध्या में तो मेरी कल्पतरु तुम्हीं हो! मेरे मन में कल्पना आई और तुमने पूरा कर दिया, इस प्रकार भरत का राज्य माँगना, मेरे लिए कल्पतरु है, माँ! तुमने तो उससे भी महान् कार्य किया है, क्योंकि कल्पतरु तो जो इच्छा की जाए, जो कल्पना की जाए, उतना ही फल देता है, लेकिन तुमने तो श्रेष्ठतम कार्य किया है, वह कितना मंगलमय है? कितना उत्कृष्ट है? यह राघवेन्द्र ही जानते हैं और वे आगे चलकर भी बार-बार इसी बात पर बल देते हैं कि कैकेयीजी ने जो कुछ किया, वह देखने में क्रूर और कठोर प्रतीत होता है, इसमें सन्देह नहीं, लोगों को आघात भी लगा, पर श्रीराम की मान्यता यह थी कि यदि विचार करके देखें तो बिना कैकेयीजी की भूमिका से जो श्रेष्ठतम उद्देश्य प्रकट हुआ, वह श्रेष्ठतम लक्ष्य किसी तरह से पूरा ही नहीं हो सकता था। कहीं-कहीं तो ऐसा होता है कि मधुरता भी होती है और मंगल भी होता है, पर कहीं-कहीं मधुरता नहीं होती, कठोरता होती है, कड़वापन होता है। यह गुणकारी औषधि की कड़वाहट है, जिसे स्वस्थ होने पर व्यक्ति भूल जाता है।

कैकेयीजी ने जो कुछ किया, उसका अन्तिम परिणाम समाज के लिए कितना उत्कृष्ट हुआ, यदि इस पर विचार करें तो कोई भी कैकेयी अम्बा को दोष नहीं देगा। यह प्रभु का पक्ष है। भगवान् राम कैकेयी की इतना प्रशंसा क्यों कर रहे हैं? और उनके वरदान को अमृत कह रहे हैं, उसका तात्पर्य क्या है? इसको गोस्वामीजी ने बड़ी ही सुन्दर रीति से प्रस्तुत किया। कैकेयीजी के जीवन में जो विकार उत्पन्न हुए उसके मूल में पहले एक बड़ी विचित्र बात कही गई कि देवताओं की प्रेरणा से सरस्वतीजी ने मन्थरा की बुद्धि बदली और उसके प्रभाव से कैकेयीजी बदल गईं और सरस्वती ने जो कुछ किया, उसके पीछे श्रीराम की प्रेरणा थी, श्रीराम की इच्छा थी। बड़ा विचित्र निष्कर्ष निकला। दुर्गुणों के मूल में कौन है? कैकेयीजी के चरित्र में जरा इस पक्ष पर आप ध्यान दें। गीता में अर्जुन ने भगवान् से पूछा–

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः। (गीता-३/३६)

कभी-कभी इच्छा न रहते हुए भी जो व्यक्ति बुराई करता हुआ दिखाई देता है तो उससे बुराई कौन कराता है? तब भगवान् ने कहा कि–

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥ (गीता-३/३७)

व्यक्ति के अन्तःकरण में रहने वाला जो काम, क्रोध और लोभ है, वही

व्यक्ति को बुराई की दिशा में प्रेरित करता है। हमारे जीवन में जो बुराइयाँ आती हैं, उनके मूल में प्रेरक ये दुर्गुण हैं। ऐसा गीता में संकेत किया गया, लेकिन कुछ प्रसंगों में बड़ी विचित्र बात कही गई, जैसे कैकेयीजी और नारदजी के प्रसंग में। इन दो पात्रों का प्रसंग ऐसा है कि इनके जीवन में दुर्गुण आए, पर उनके मूल में कौन है? कैकेयीजी के प्रसंग में तो स्पष्ट ही बताया गया कि प्रेरक कौन है? मन्थरा नहीं, मन्थरा के पीछे सरस्वती, सरस्वती के पीछे देवता और देवताओं के पीछे भी प्रभु की इच्छा। इसीलिए तो भगवान् राम लोगों को उलाहना देते हैं कि यदि उनको दोष ही देना है तो मुझे दोष देना चाहिए, क्योंकि जो कुछ हुआ, वह तो मैंने कराया। इसका तात्पर्य यह है कि दुर्गुणों की प्रेरणा से तो दुर्गुण आते ही हैं, परन्तु कभी-कभी किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए, भगवान् की प्रेरणा से भी ये दुर्गुण जीवन में दिखाई देते हैं। कृपया इसका उल्टा अर्थ मत लीजिएगा कि कभी जीवन में बुराई दिखाई दे तो यह मान लें कि जरूर भगवान् ने ही जीवन में यह बुराई पैठायी होगी। यह तो विशेष प्रसंग की बात है कि जैसा मैंने पिछले प्रवचन में भी कहा था कि साधक के लिए उपयोगी तो श्रीभरत का ही दृष्टिकोण है और वह यह है कि गुण और दोष में श्रीभरत कहते हैं कि–

गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा। २/१३०/३

वाल्मीकिजी कहते हैं कि भक्त का लक्षण क्या है? जो अच्छे काम होते हैं, ये भगवान् की प्रेरणा से होते हैं और जो बुरे कार्य होते हैं, अपनी त्रुटि से होते हैं। साधक जब यही मानकर चलेगा कि बुराई तो हमारी स्वयं की दुर्बलता है, तभी साधक के जीवन में बुराई से बचने की इच्छा होगी। रामराज्य में जो बाधा पड़ रही है, अगर वह लंका की ओर से पड़े, राक्षसों की ओर से पड़े तब तो बात समझ में आती है, परन्तु यहाँ रामराज्य में बाधा पड़ रही है, देवताओं की ओर से। इसमें बेचारे देवताओं का भी कोई दोष नहीं। स्वयं भगवान् राम ही अपने राज्य में बाधक बन रहे हैं और वे संकल्प कर रहे हैं कि राज्य भरत को मिले। दूसरी दृष्टि से विचार करके देखें तो अन्तर्यामी भगवान् राम ही सूत्रधार के रूप में ऐसी योजना बना रहे हैं कि इस प्रकार की दुर्घटना अयोध्या में घटे। ईश्वर और दुर्घटना! सोचकर बड़ा अचम्भा लगता है। ईश्वर का जो संकल्प होता है, वह कभी तो बड़ा विचित्र प्रकार का होता है।

ईश्वर की अनुकम्पा, कोमलता और करुणा तो व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है, पर जीवन में कई बार ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जो बड़ी कटु प्रतीत होती हैं, बड़ी कष्टदायक और दुःखद प्रतीत होती हैं, लेकिन बस एक ही कसौटी है कि अन्त में परिणाम क्या हुआ? बस, मूल बात यह है। इसको दृष्टान्त के रूप में कहें तो शास्त्र कहता है कि व्यक्ति को दुःख मिलता है पाप के कारण, पर बड़े-बड़े महापुरुषों और भक्तों के जीवन में भी दुःख का वर्णन आया, तो वह दुःख उनके किसी पाप का परिणाम है कि नहीं? लक्ष्मणजी ने निषादराज से बड़ा मीठा व्यंग्य किया। भगवान् राम शीशम वृक्ष के नीचे कुश की शय्या पर सोये हुए थे, कुश पर सोते देख निषादराज की आँखों में आँसू आ गए और कहा कि–

कैकयनन्दिनि मन्दमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहि रघुनन्दन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ २/९०

निषादराज को विश्वास था कि इस बात का लक्ष्मणजी समर्थन करेंगे, पर लक्ष्मणजी ने बड़ी विचित्र बात कही। रामायण काल में कैकेयीजी के केवल दो ही समर्थक थे या तो भगवान् श्रीराम या लक्ष्मणजी। तीसरा तो कोई व्यक्ति था ही नहीं। यद्यपि यह भी बड़ी विचित्र-सी बात लगती है कि लक्ष्मणजी, और कैकेयी के पक्ष में हों। लगता तो यह है कि सबसे अधिक क्रोध यदि किसी को कैकेयी के प्रति होना चाहिए था तो लक्ष्मणजी को होना चाहिए था, क्योंकि श्रीराम को जो कष्ट दे, उसके तो लक्ष्मणजी शत्रु बन जाएँगे, यही उनका स्वभाव होना चाहिए, पर विचित्र बात है कि कैकेयी की निन्दा जब निषाद ने की तो लक्ष्मणजी ने बिल्कुल समर्थन नहीं किया और कहा कि आप जो आलोचना कर रहे हैं, वह सही नहीं है। कैकेयी का दोष नहीं है, मन्दबुद्धि कैकेयी का दोष नहीं है तो फिर किसका दोष है? तो लक्ष्मणजी ने इसके उत्तर में सिद्धान्त कह दिया कि–

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥ २/९१/४

निषादराजजी! कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता, व्यक्ति अपने ही कर्म का फल भोगता है। अपने ही कर्म से सुख मिलता है। अपने ही कर्म से दुःख मिलता है। निषादराज आश्चर्य से मुँह देखने लगे कि क्या आप यह कहना चाहते हैं कि श्रीराम को जो दुःख मिला है, वह उनके ही किसी कर्म का परिणाम है? हँसकर लक्ष्मणजी ने कहा कि मैं

यह कहना चाहता हूँ कि श्रीराम को कुशशय्या पर सोया हुआ देखकर दुःख किसको हो रहा है? सोने वाले को हो रहा है कि देखने वाले को? श्रीराम से जाकर पूछा जाए कि आपको कुशशय्या पर सोकर कैसा लग रहा है? श्रीराम को तो इससे सुख मिल रहा है।

यदि किसी को दुःख मिल रहा हो तो यह उसके पाप का परिणाम भले ही हो, लेकिन जिसको स्वयं आनन्द का अनुभव हो रहा है, भले ही वह प्रतिकूलता हो! यह तो अपनी अनुभूति पर निर्भर है। लक्ष्मणजी ने सारा दृष्टिकोण बदल दिया। इसकी कसौटी एक ही है कि अगर दुःख आने पर भगवान् भूल जाएँ तो समझ लीजिए पाप का परिणाम है और दुःख आने पर यदि भगवान् की याद और भगवान् का प्रेम बढ़ जाए तो समझ लीजिए कि वह दुःख पाप का परिणाम कभी नहीं है, वह तो न जाने कितने ऊँचे पुण्य का परिणाम है कि जो भगवान् के पास पहुँचने के लिए मिल रहा है। कसौटी यही है। घटनाओं को देखकर निर्णय कीजिएगा तो भ्रम होगा। इसलिए सांकेतिक भाषा क्या है? कसौटी यह है कि अन्त में परिणाम क्या हुआ? देखिए! नारदजी के जीवन में और कैकेयीजी के जीवन में ईश्वरीय प्रेरणा दिखलाई दे रही है।

देवर्षि नारद के चरित्र के दो पक्ष हैं। एक पक्ष तो वह है कि जब उन्होंने हिमालय की उपत्यका में बैठे हुए काम, क्रोध एवं लोभ तीनों को जीत लिया और नारद का एक चरित्र वह है कि जब वे विवाह के लिए बेचैन हो करके भगवान् से सुन्दरता माँगते हैं कि जिससे मेरा विवाह हो जाए। कौन-से नारद महान् हैं? ये जो विवाह के लिए बेचैन हैं कि वे जिन्होंने काम, क्रोध एवं लोभ को जीत लिया है! और बड़ी विचित्र बात है कि जब कामदेव आया, तब तो नारदजी के मन में काम नहीं आया। नारदजी के जीवन में भी जो काम की विकृति दिखाई दे रही है, वह कामदेव के द्वारा नहीं है। इन्द्र ने जब कामदेव को भेजा और कामदेव जब नारद के मन में विकृति उत्पन्न करना चाहता है तो–

काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी। १/१२५/७

नारद के मन पर काम का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। दोनों नारदों में कौन श्रेष्ठ है? पर एक बात पर जरा ध्यान दीजिएगा! नारद के जीवन में जो काम उत्पन्न हुआ, जो दोष उत्पन्न हुआ, इसके पीछे किसकी प्रेरणा है? नारदजी तो काम, क्रोध एवं लोभ को जीतकर भगवान् के पास पहुँच

गए, पर आगे चलकर नारदजी के जीवन में जो कुछ हुआ, उसके सूत्रधार स्वयं प्रभु ही थे। गोस्वामीजी ने लिखा कि जब नारदजी जाने लगे तो–

श्रीपति निज माया तब प्रेरी। १/१२८/८

भगवान् ने अपनी माया से कहा कि मैं जरा नारद का नृत्य देखना चाहता हूँ सो तुम ऐसा करो कि नारद के मन में विकृति आ जाए, नारद के मन में सौन्दर्य और विवाह की इच्छा आ जाए। इसका क्या अर्थ हुआ? काम की प्रेरणा से तो काम आता है, यह देखा जाता है, लेकिन राम की प्रेरणा से काम आया, नारदजी के जीवन में! भगवान् से नारदजी ने पूछा कि आपने जो कुछ किया, इसका उद्देश्य क्या है? भगवान् ने कहा कि नारद! तुम्हारे जीवन में तो मैंने उल्टी बात देखी। जब तुमने काम एवं क्रोध को जीत लिया, तब तुम्हारे मन में इतना अभिमान आया कि तुम बहुत दिनों तक मुझसे मिलने भी नहीं आए। जीतने के बाद तो तुम मुझे भूल गए और अपनी गुणगाथा का संसार में प्रचार करने लगे कि मैंने कैसे काम को जीता है? मैंने देखा कि तुम्हारी जो दुर्गुणों पर विजय है, यह अन्ततोगत्वा तुम्हें मुझसे दूर बना रही है, परन्तु जब तुम्हारे मन में विवाह की इच्छा आई तो तुम्हें सबसे पहले मेरी ही याद आई और मेरे पास ही तुम सुन्दरता माँगने आए। जो विवाह की इच्छा मेरे पास पहुँचाए, वह सकामता ही अच्छी है और जो निष्कामता, अहंकार की सृष्टि करके मुझसे दूर बना दे, वह तो मेरी दृष्टि में कल्याणकारी नहीं है।

वस्तुतः नारद के चरित्र में भी भगवान् यह बताना चाहते थे कि नारद को यह भ्रम हो गया है कि मैंने काम, क्रोध एवं लोभ को जीत लिया। भगवान् यह दिखा देना चाहते हैं कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के द्वारा और अपनी क्षमता के द्वारा बुराइयों को नहीं जीत सकता। अगर ऐसा वह मान लेगा तो अन्ततोगत्वा बुराइयों को जीतने पर भी उसका पतन हो जाएगा और वह नीचे की ओर गिरेगा। इसलिए वहाँ पर गोस्वामीजी ने कहा कि एक नाटक की योजना हो गई। देखिए! नारदजी के मन में अभिमान आ गया था। यह मान लें, तो क्या भगवान् नारद को समझा नहीं सकते थे कि नारद! अभिमान नहीं करना चाहिए, अभिमान तुम छोड़ दो? बल्कि भगवान् नारद से कहते क्या हैं?–

रुख बदन करि बचन मृदु बोले श्रीभगवान्।
तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मार मद मान॥ १/१२८

नारद! तुम्हारे दर्शन से तो दूसरों का काम, क्रोध एवं लोभ दूर हो जाता है। नारदजी और फूल गए तथा सोचा कि जब भगवान् ही मेरी प्रशंसा कर रहे हैं तो अब कौन बाकी रह गया? प्रशंसा करना चाहिए था कि नारदजी को फटकारना चाहिए था कि तुम अभिमान कर रहे हो? लिखा हुआ है कि भगवान् ने सोचा कि नारद को फटकारकर अभिमान तो दूर कर देंगे, लेकिन नाटक यहीं समाप्त हो जाएगा। नाटक को समेटना बड़ा सरल है। मान लीजिए नाटक ढाई घण्टे का है, परन्तु सचमुच कोई चाहे तो दस मिनट में खत्म कर सकता है। नाटक तो नाटक है।

मान लीजिए धनुषयज्ञ हो रहा है। उसमें देश-देश के राजा आए हुए हैं। प्रत्येक राजा को उठकर धनुष के पास जाना है तथा यह दिखाना है कि उनसे न धनुष टूट रहा है, न उठ रहा है। रामलीला में जो धनुष रखा जाता है, वह तो इतना हल्का होता है कि उसको तो एक बच्चा भी उठाकर तोड़ दे। कोई राजा यह सोचे कि धनुषयज्ञ को क्यों इतना लम्बा खींचने दें? हम ही धनुष तोड़कर सारा झंझट अभी समाप्त किए देते हैं तब तो रामलीला का सत्यानाश ही हो जाएगा। उसको तो नाटक में यही दिखाना है कि मुझसे धनुष नहीं उठ रहा है।

इसका अभिप्राय यह है कि नाटक में भगवान् ने यह निर्णय किया कि नारद को माध्यम बना करके एक नाटक प्रस्तुत करना है, एक लीला प्रस्तुत करनी है। नारद को केन्द्र बना करके हमको संसार के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करना है और इसमें भगवान् की योजना क्या है? महर्षि याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को जब नारद-प्रसंग सुनाया तो भरद्वाजजी तो व्याकुल हो गए। इतने बड़े महापुरुष के मन में इतने विकारों का उदय कैसे हो गया? इतना पतन हो गया नारद का! अनर्थ हो गया। याज्ञवल्क्य हँसने लगे। भरद्वाज ने कहा कि इतने बड़े महात्मा का पतन हो गया और आपको हँसी आ रही है! कहने लगे कि नाटक देख करके क्या होता है? तुम जो सुन रहे हो, उसको एक ही दृष्टि से देख रहे हो क्या? बोले कि ये जो घटनाएँ हो रही हैं, ये कौतुक हैं, नाटक हैं–

भरद्वाज कौतुक सुनहु। १/१२७

और एक वाक्य और जोड़ दिया कि–

भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान। १/१२७

यह जो कुछ हुआ, इसके पीछे स्वयं भगवान् की इच्छा थी। स्वयं भगवान्

ने अपनी इच्छा के द्वारा यह सब किया, पर भगवान् ने किया क्यों? भगवान् ने यह निर्णय किया कि यदि नारद को समझाकर अभिमान दूर करेंगे तो नारद के जीवन का अभिमान तो दूर करना बड़ा सरल है, लेकिन संसार में अनगिनत व्यक्तियों के जीवन में जो अभिमान आता है, उस अभिमान की बुराई को कैसे दूर करेंगे? जैसे कभी-कभी रोग को शरीर में प्रविष्ट करा करके परीक्षा की जाती है कि रोग के द्वारा क्या-क्या विकार होते हैं? और बाद में उस रोग की दवा निकाली जाती है कि शरीर में ऐसा रोग उत्पन्न हो तो कौन-सी दवा करें? उसी प्रकार से भगवान् ने यह कहा कि अभिमान की बुराई पूरी तरह से संसार के सामने प्रकट हो और संसार का कल्याण हो, उसके लिए यहाँ इसकी आवश्यकता है कि इस नाटक का विस्तार किया जाए। नारदजी का हित भी होना चाहिए और मेरा कौतुक भी–

मुनि कर हित मम कौतुक होई।
अवसि उपाय करब मैं सोई॥ २/१२८/६

इस प्रकार इस नाटक के सूत्रधार स्वयं भगवान् हैं कोई अन्य नहीं और पूछा गया कि क्या मायानगर में पहुँचकर नारद इतने बुद्धिमान् होते हुए भी भूल गए? गोस्वामीजी ने कहा कि मुनिजी भी तो अभिनेताओं में थे और किसी-न-किसी अभिनेता को बुरा भी बनना पड़ेगा, खलनायक भी बनना पड़ेगा। अगर प्रत्येक अभिनेता यही कहे कि हम तो श्रेष्ठ व्यक्ति का ही अभिनय करेंगे तो नाटक नहीं होगा। अभिनय में तो जो काम जिसको दे दिया जाए, उसको करना चाहिए। नारदजी क्यों जा रहे हैं? गोस्वामीजी ने नारदजी को भी उपाधि दी–

मुनि कौतुकी नगर तेहिं गयऊ। १/१२६/७

अगर भगवान् कौतुकी थे तो नारद भी उन्हीं के भक्त हैं, वे भी कौतुकी हैं। नारदजी चले गए। फिर रुद्रगण क्यों गए? रुद्रगणों को भला क्या आवश्यकता थी कि वहाँ जाकर हँसी उड़ाने लगे? तुरन्त वही शब्द शंकरजी के गणों के लिए भी जोड़ दिया गया–

बिप्रबेष देखत फिरहिं परम कौतुकी तेउ॥ १/१३३

वे दोनों भी परम कौतुकी थे। परम क्यों? इसलिए कि आगे चलकर इन बेचारों को रावण-कुम्भकर्ण बनना पड़ा। जो नाटक में रावण और कुम्भकर्ण भी बनने को तैयार हो जाए, वह अभिनेता पक्का है, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार नाटक की एक योजना बन गई। विश्व रंगमंच

पर चरित्र का आदर्श प्रस्तुत करना है और इसके लिए नारद को केन्द्र बनाया गया और उनके मन में एक के बाद दूसरी बुराई और दूसरी के बाद तीसरी बुराई और उसकी पराकाष्ठा तब हुई जब नारद ने देखा कि विश्वमोहिनी को लेकर तो भगवान् चले गए और सरोवर में अपना मुख देखा तो पता चला कि मुझे तो भगवान् ने बन्दर की आकृति दी है तो इतना क्रोध आया कि निर्णय कर लिया–

देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई। १/१३५/३

मैं भगवान् को शाप देकर के दण्ड दूँगा या मर जाऊँगा। हम भगवान् के पास चलें। जब नारद भगवान् की ओर चले तो भगवान् मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए कि नारद तुम्हारे जीवन की यह बात बड़ी अच्छी है कि काम आया तो मेरे पास चले आए और अब क्रोध आया तो मेरी ओर चले आ रहे हो! चलो, कहीं और तो नहीं जा रहे हो! मेरी ओर ही तो आ रहे हो! नारद से भगवान् बीच मार्ग में ही मिल गए। बोले, कष्ट क्यों करोगे? तुम मुझसे मिलना चाहते हो तो लो, मैं ही आ गया। और पूछा नारद से–

मुनि कहँ चले बिकल की नाईं। १/१३५/५

देवर्षि ने क्रोध में भगवान् को कहना प्रारम्भ किया कि आपने सारा अनर्थ कर दिया, मुझे हँसी का पात्र बनाया, बन्दर बनाया और अब इतने भोले बनकर पूछ रहे हैं कि मुनिजी! कहाँ जा रहे हैं? बिगड़कर लगे भगवान् को फटकारने–

परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई।
भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई॥
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू।
बिसमय हरष न हियँ कछु धरहू॥
डहकि डहकि परिचेहु सब काहू।
अति असंक मन सदा उछाहू॥
करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।
अब लगि तुम्हहि न काहूँ साधा॥
भले भवन अब बायन दीन्हा।
पावहुगे फल आपन कीन्हा॥ १/१३६/१-५

भगवान् की ऐसे कठोर शब्दों में निन्दा की–

असुर सुरा बिष संकरहिं आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु॥ १/१३६

केवल कठोर शब्द ही नहीं कहा, बल्कि भगवान् को शाप दे दिया और कहा कि मैं तुमसे बदला ले रहा हूँ? तुमने मेरा विवाह नहीं होने दिया तो तुम्हें पत्नी के वियोग में रोना पड़ेगा और तुमने मुझे बन्दर की आकृति दी है तो बन्दर तुम्हारी सहायता करेंगे और तुमको महान् संकट उठाना पड़ेगा। विकृति आई नारद में तो भगवान् को शाप दे दिया। भगवान् को तो कहना चाहिए था कि मैं तो तुम्हारी दवा कर रहा था और तुम मुझ पर प्रहार कर रहे हो? लेकिन भगवान् तो प्रसन्न हो गए, लिखा हुआ है–

श्राप सीस धरि हरषि हियँ प्रभु बहु बिनती कीन्हि। १/१३७

नारदजी ने बाद में भगवान् से पूछा कि मैं आप पर बिगड़ रहा था और आपके लिए अशिष्ट शब्दों का प्रयोग कर रहा था, तब आप प्रसन्न क्यों हो रहे थे? भगवान् ने कहा कि नारद! तुम्हारी पुरानी स्तुति सुनने-सुनते ऊब गया था, तुमने जो यह नया स्तोत्रपाठ किया, यह तो सचमुच तुम्हारे मुँह से नया ही लगा। जो कुछ भक्त मुझे कहता है, वह सब मुझे अच्छा लगता है, जैसे बालक रूठकर भी अन्ततोगत्वा माँ की गोद में बड़े प्यार से चला जाता है, पर कभी उसके मन में यह भावना आ जाती है कि माँ बड़ी कठोर है, माँ बड़ी बुरी है, माँ मेरा ध्यान नहीं रखती है, परन्तु उस समय भी माँ बालक के अपनत्व को देखकर ही प्रसन्न हो जाती है कि बालक बेचारा क्या करे? इसको मेरा सहारा छोड़कर किसका सहारा है? नारद! तुमने शाप दे दिया, लेकिन तुम्हारा शाप सुनकर भी मुझे हँसी आए बिना नहीं रही। तुम जैसे सन्त कितने भी बदलें, पर बदल नहीं सकते। देख लो, तुम भी अपने स्वभाव को बदल नहीं पाए। तुमको तो शाप भी देना नहीं आता। तुमको तो शाप देना चाहिए था कि तुमने मेरा विवाह नहीं होने दिया तो अगले जन्म में तुम्हारा भी विवाह नहीं होगा, परन्तु तुमने तो यह कहा कि पत्नी के वियोग में तुम्हें रोना पड़ेगा तो इसका अर्थ हुआ कि विवाह का वरदान तो तुमने दे ही दिया। मैंने तो तुम्हारा विवाह रोका और तुम मेरा विवाह करा रहे हो? वैसे ही तुमको कहना चाहिए था कि बन्दर तुमको कष्ट देंगे। तुमने उल्टा कह दिया कि बन्दर जीवन भर तुम्हारी सहायता करते रहेंगे, यह भी वरदान ही दिया, शाप नहीं। मुझे हँसी आई

कि सन्त तो कितना भी बिगड़ें, परन्तु सन्त तो ऐसे धातु का बना ही नहीं, कि किसी का अहित कर पाए। भगवान् ने प्रसन्न होकर शाप सिर पर रख लिया, क्योंकि नारदजी ने कहा था कि—

परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई। १/१२६/१

भगवान् ने कहा कि नारद! मैं बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं हूँ। संसार में तो स्वतन्त्र हूँ, पर तुम्हारा तो वरदान ही नहीं, शाप भी मेरे सिर पर है, मैं उसे धारण करता हूँ। उसके बाद नारदजी की स्तुति करने लगे, विश्वमोहिनी को वहाँ से अन्तर्धान कर दिया। नारदजी का सारा भ्रम दूर हो गया, माया दूर हो गई—

जब हरि माया दूरि निवारी।
नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥
तब मुनि अति सभीत हरि चरना।
गहे पाहि प्रनतारति हरना॥ १/१३७/१-२

पुनः नारदजी ने भगवान् के चरणों को कसकर पकड़ लिया और कहा कि—

मृषा होउ मम श्राप कृपाला। १/१३७/३

मैंने जो आपको शाप दिया है, वह सब झूठा हो जाए! तब भगवान् ने नारद का मुँह बन्द कर दिया, क्योंकि इतनी कठिनाई से तो नाटक की योजना बनी और तुम शाप वापस लेकर सब बिगाड़ दे रहे हो! अरे भई! तुम्हारे कारण तो राम के रूप में मेरा जन्म होगा! तुम इतने महान् हो कि भक्ति और उपासना के द्वारा तो लोग मुझे अवतार लेने के लिए बाध्य करते ही हैं, परन्तु तुम जैसा सन्त मुझे शाप के द्वारा भी लोककल्याण के लिए अवतरित होने के लिए बाध्य कर रहा है और उसके द्वारा आगे चलकर महान् चरित और आदर्श आने वाला है। इसलिए तुम इस शाप को वापस मत लो। शाप तुम्हारा बना रहे और मैं जो नाटक करना चाहता था, उस नाटक का विस्तार हो!

इसका अभिप्राय यह है कि कभी-कभी ऐसे पात्रों के माध्यम से भगवान् जब किसी श्रेष्ठतम आदर्श की सृष्टि करना चाहते हैं तो उस समय भगवान् जो लीला करते हैं, वह देखने में बड़ी अटपटी और बड़ी कठोर प्रतीत होती है, परन्तु अन्तिम परिणाम की दृष्टि से देखें तो यही सत्य वस्तुतः कैकेयी अम्बा के सन्दर्भ में है। भगवान् राम की एक महती योजना थी और उस योजना में कैकेयीजी ने जो कुछ किया, वह किए

बिना योजना क्रियान्वित नहीं हो सकती थी और वह योजना क्या थी? इसको गोस्वामीजी ने आध्यात्मिक रूप देते हुए कहा है—

पुराणों में देवासुर संग्राम का वर्णन आता है, उसमें देवता मरते थे और दैत्य जीवित रहते थे। इसमें बड़ा विचित्र व्यंग्य आया कि दैत्यों के गुरु शुक्राचार्यजी दैत्यों को जीवित कर देते हैं और देवता मर जाते हैं। यह जीवन का कितना बड़ा सत्य है? हम लोगों के जीवन में भी यही दिखाई देता है कि दुर्गुण अमर हैं और गुण मरने वाले हैं। अवगुणों को मिटाने भी वे बार-बार जन्म ले लेते हैं और गुण मर जाते हैं। जब गुण मर जाए और इसकी चिन्ता हो, तब कहाँ जाना चाहिए? देवता व्याकुल हो करके भगवान् के पास आ गए! इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि बिना भगवान् की कृपा के और बिना भगवान् की सहायता के जीवन में सद्गुण अमर नहीं हो सकते हैं, दुर्गुण ही अमर होंगे।

श्रीमद्भागवत में सांकेतिक वर्णन आता है कि देवकीजी के गर्भ से भगवान् के पहले जितने बालकों का जन्म हुआ, कंस ने उन बालकों को मार डाला। ये भगवान् से पहले जो जन्म लेते हैं, ये सब सद्गुण हैं, सद्विचार हैं, लेकिन उनके जन्म लेते ही देहाभिमानी कंस उन्हें मार देता है और इससे अन्त में निराशा और व्याकुलता उत्पन्न होती है। वसुदेव और देवकी को ऐसा लगता है कि हाय! हाय! हम तो अपने बच्चों को बचाने में भी समर्थ नहीं हैं। यह केवल वसुदेव और देवकी की ही बात नहीं है, न जाने कितने साधक यह अनुभव करते हैं कि हमारे जीवन में छोटे बच्चों के रूप में सद्गुण जन्म लेते हैं, परन्तु यह कंस उनको जन्म लेते ही मार देता है और तब पूरी तरह से भगवान् के प्रति शरणागति का उदय होता है कि मैं अपनी सामर्थ्य के द्वारा इन सद्गुणों को बचाने में समर्थ नहीं हूँ आप ही कृपा करके आइए! और तब अन्त में भगवान् आते हैं।

फिर सांकेतिक कथा आती है, जब भगवान् बहुत दिनों के पश्चात् मथुरा लौटे और उन्होंने देवकीजी से पूछा कि आप क्या चाहती हैं? तब देवकीजी के मुँह से यही निकला कि मेरे जिन पुत्रों को कंस ने मार दिया था, मैं उन पुत्रों को पुनः पाना चाहती हूँ, देखना चाहती हूँ और तब वर्णन आता है कि भगवान् कृष्ण ने उन पुत्रों को ला दिया। इसका अभिप्राय क्या है? बिना भगवान् के आए जो सद्गुण समाप्त हो गए हैं, जब भगवान् की कृपा हो जाती है तो वे ही पुनः जीवित हो जाते हैं। बिना भगवान्

के जो सद्गुण होगा, वह अमर नहीं होगा। यही समस्या वहाँ थी।

देवासुर संग्राम में जब देवता मरने लगे, तब वे भगवान् के पास आए और तब भगवान् ने यह कहा कि तुम लोग दैत्यों से मिलकर समुद्र का मन्थन करो और इससे जो अमृत निकलेगा, वह हम तुम्हें पिला देंगे। बड़ी सूक्ष्म सांकेतिक कथा है। भगवान् कहते हैं कि अमृत निकालने में प्रयत्न तो दोनों करेंगे, देवता और दैत्य, परन्तु हम अमृत तुम्हें पिला देंगे और दैत्य सुरा पीकर मतवाले हो जाएँगे। तुम लोग अमर हो जाओगे और बाद में तुम लोगों से जो युद्ध होगा, उसमें दैत्य पराजित हो जाएँगे।

गोस्वामीजी ने कहा कि यहाँ पर भी भगवान् के सामने यही समस्या थी। जैसे देवता और दैत्यों का युद्ध बाहर चलता है, इसी प्रकार से प्रत्येक साधक के जीवन में भी अच्छे विचार और बुरे विचारों का युद्ध चल रहा है और उसमें भी यही दिखाई दे रहा है कि अच्छे विचार सफल नहीं हो रहे हैं और बुरे विचार सफल हो रहे हैं। क्या करें? मानो भगवान् राम से साधकों ने, भक्तों ने यह प्रार्थना की कि महाराज! हमारे जीवन में यह जो सद्गुणों की मृत्यु है, इसको हम कैसे रोकें? तो भगवान् ने कहा कि समुद्र मन्थन करना होगा और फिर से अमृत निकालना पड़ेगा। भगवान् ने कहा कि उस समुद्र का मन्थन तो देवता और दैत्यों ने मिलकर किया था, परन्तु इस समुद्र का मन्थन मैं करूँगा और अमृत निकालूँगा और उसको जो पियेगा, वह अमर हो जाएगा। मन्दराचल पर्वत से वासुकि नाग की रस्सी बनाकर जब मन्थन किया गया तो पहले अमृत नहीं निकला, विष निकला। बेचारे देवता तो निराश हो गए, तब भगवान् ने कहा, घबराते क्यों हो? अमृत भी निकलेगा, पर बाद में निकलेगा। भगवान् के कहने पर देवताओं ने प्रार्थना की, तब शंकरजी ने विषपान किया। यह क्रम है।

देवता सद्गुण हैं, भगवान् विष्णु भगवान् हैं, संशय हलाहल विष है। साधक के जीवन में कभी-कभी साधन करते-करते सन्देह उत्पन्न होता है कि इतने दिनों से मैं पूजा-पाठ, जप कर रहा हूँ, कुछ नहीं हो रहा है। जब यह संशय का जहर निकल आता है, तब भगवान् बहुत बढ़िया उपाय बतलाते हैं कि संशय की विषज्वाला से बचना असम्भव है। जब शंकरजी ने विष की ज्वाला को पी लिया, तब उसके बाद अमृत निकला, जिसे पीकर देवता अमर हो गए। भगवान् श्रीराम ने कहा कि यहाँ भी एक समुद्र है और उसमें भी अमृत भरा हुआ है, परन्तु वह समुद्र इतना

गम्भीर है कि अमृत को बाहर प्रकट नहीं होने दे रहा है।

भरत ही समुद्र हैं, जिनके भीतर प्रेम का अमृत छिपा हुआ है, परन्तु भरत इतने संकोची हैं और अपने आपको इतना छिपाकर रखते हैं कि संसार के सामने भरत का प्रेम, भरत के गुण आ ही नहीं रहे हैं। भरतजी का स्वभाव बड़ा विचित्र है। विश्वामित्रजी लेने आए, लक्ष्मणजी साथ जा रहे हैं, यदि श्रीभरत चाहते और आग्रह करते कि हम भी प्रभु के बिना नहीं रह सकते, साथ जाएँगे, तो भरतजी का प्रेम प्रकट होता कि राम से कितना प्रेम करते हैं कि साथ-साथ जाने का आग्रह कर रहे हैं। विवाह के बाद मामा आए तो ननिहाल जाने के समय कह देते कि मैं तो प्रभु के पास ही रहूँगा। तो लोग समझ लेते कि भरत प्रेमी हैं, लेकिन श्रीभरत का स्वभाव बिल्कुल उल्टा है।

भरत-समुद्र में इतनी गहराई है कि उनको नापना बहुत कठिन है। कहते हैं कि प्रभु के साथ लक्ष्मण का जाना ही ठीक है, क्योंकि मैं तो संकोच के मारे प्रभु की कोई बात टाल नहीं पाऊँगा, इसलिए उनकी सेवा नहीं बन सकेगी और लक्ष्मण तो निःसंकोच सेवा करने वाले हैं, प्रभु की बात टालकर भी सेवा करेंगे। इसलिए लक्ष्मणजी सेवा के लिए अधिक उपयोगी हैं। मैं साथ जाकर क्या करूँगा? मेरी कोई उपयोगिता नहीं है। श्रीभरत में एक यह मूक समर्पण है, छिपा हुआ भाव विद्यमान है। भरत ननिहाल चले गए, उसका उद्देश्य क्या था? भरत को पता था कि उनकी माता के विवाह के समय यह वचन दिया गया था कि अयोध्या का राज्य भरत को मिलेगा। श्रीभरत ने सोचा कि मैं अयोध्या से कहीं बहुत दूर चला जाऊँ और इतने वर्षों तक मैं ननिहाल में रहूँ कि मेरे पीछे से श्रीराम का राज्याभिषेक हो जाए और मेरे ननिहाल वालों की तरफ से कोई बाधा उपस्थित न हो, इसी उद्देश्य से अपने गुणों को छिपाकर श्रीभरत चौदह वर्षों तक ननिहाल में रह गए।

भगवान् राम ने जो चौदह वर्ष की वन यात्रा की, इसका उद्देश्य भी यही था कि भरत! तुमने मेरे गुणों के प्रकट करने के लिए इतना तप किया है, अब तुम्हारे गुणों को प्रकट करने के लिए मुझे भी चौदह वर्षों का तप करना ही पड़ेगा। संसार के सामने तुम आना चाहते ही नहीं, तुम अपने को छिपाना चाहते हो, परन्तु मैं तुमको प्रकट करना चाहता हूँ। इतने निरभिमानी श्रीभरत हैं। इसलिए भगवान् राम चाहते हैं कि जब तक श्रीभरत के प्रेम का अमृत

प्रकट नहीं होगा, जब तक श्रीभरत के प्रेम को सद्गुणों के साथ लोग जीवन में स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक बुराइयाँ जीतेंगी और अमर होंगी। इसलिए भरतप्रेम का अमृत प्रकट करना है। इसके लिए मन्दराचल चाहिए, वासुकि नाग चाहिए तो कहा–

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिन्धु रघुबीर॥ २/२३८

चौदह वर्ष का वियोग ही मन्दराचल पर्वत है। इसका अभिप्राय है कि कहीं चौदह वर्ष का वनवास न हुआ तो श्रीभरत का महान् चरित्र, महान् त्याग, महान् आदर्श जो रामराज्य के निर्माण के लिए सचमुच चाहिए, वह संसार में प्रकट न होता। दशरथजी तो मान बैठे थे कि राम को सिंहासन पर बैठाने मात्र से रामराज्य बन जाएगा, परन्तु सचमुच जब तक भरतराज्य न हो, तब तक भरत जीवन में न आएँ, जब तक श्रीराम-भरत स्वयं आकर जीवन के दुर्गुणों को नष्ट न कर दें, तब तक राम का सिंहासन कहाँ लगेगा? राम किस सिंहासन पर बैठेंगे? इसलिए भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने निर्णय किया कि भरत-समुद्र को मथने के लिए चौदह वर्ष के वियोग की मथानी चाहिए और जब मथानी पर ध्यान गया तो रस्सी भी चाहिए और रस्सी भी कौन-सी? वासुकि नाक की! रस्सी किसको बनाएँ? प्रभु ने कैकेयी अम्बा की ओर देखा कि तुम क्रियामयी हो, इसलिए अब तुमको ही रस्सी बनाना पड़ेगा, भले ही लोग तुम्हें सर्पिणी कहें, भले ही लोग तुम्हारी निन्दा करें, लेकिन इसके द्वारा संसार के समक्ष जो आदर्श प्रकट होगा, वही सचमुच रामराज्य होगा, अभी यदि रामराज्य बना तो यह कहने को रामराज्य होगा। भगवान् राम ने कहा कि माँ! तुमने जो यह वरदान माँगा कि राम! तुम चौदह वर्ष के लिए वन जाओ, बस मैं यही चिन्ता कर रहा था कि मैं कहाँ से मथानी लाऊँ? और कहाँ से रस्सी लाऊँ? आप रस्सी स्वयं बन गई, इसमें तुम्हें चाहे जितना भी कष्ट हो, पर मैं यह समझता हूँ कि इससे भरत जैसे महान् सन्त का चरित्र प्रकट होगा। इसलिए जब कोई कैकेयी की आलोचना करता है तो भगवान् राम कहते हैं कि तुम परिणाम की ओर क्यों नहीं देखते हो? मैंने चेष्टा की है कि संसार के सामने सच्चा प्रेम आए और इसके लिए जो माँ निमित्त बनीं, उस माँ को दोष देना ठीक नहीं है। यह प्रभु का पक्ष है। इसके बाद की चर्चा अगले प्रवचन में करेंगे।

□□

नवम प्रवचन

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ २/९१
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८

आज और कल कथा के दो दिन और शेष हैं तथा इन दो दिनों में हम आपका ध्यान कैकेयी अम्बा के वन्दनीय पक्ष की ओर आकृष्ट करेंगे। कैकेयीजी की निन्दनीयता के पक्ष में भी साधक के लिए बड़ी प्रेरणा है। उनके चरित्र के द्वारा हमें सजग रहने की प्रेरणा प्राप्त होती है। पर इसके साथ-साथ कैकेयीजी को निमित्त बना करके जिस घटना की सृष्टि हुई, जब उसके परिणाम पर दृष्टि जाती है, तब भगवान् श्रीराम का यह वाक्य बड़ा सार्थक लगता है कि–

दोसु देहिं जननिहिं जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८

श्रीराम की दृष्टि का तात्पर्य है ईश्वर की दृष्टि। ईश्वर की दृष्टि में और जीव की दृष्टि में एक अन्तर है। ईश्वर की दृष्टि समग्र दृष्टि है और जीव की दृष्टि एक सीमा तक ही देखने वाली है। जैसे, जब एक बालक का जन्म होता है तो आनन्द और उल्लास छा जाता है और जन्म का हम बड़े प्रेम से स्वागत करते हैं, लेकिन ईश्वर की दृष्टि भिन्न है। ईश्वर ने जिस सृष्टि का निर्माण किया है, उसमें केवल जन्म ही तो नहीं है। मृत्यु भी है। जीव की दृष्टि से हम जन्म का स्वागत करते हैं, परन्तु मृत्यु से हम व्याकुल हो जाते हैं, भयभीत हो जाते हैं, लेकिन ईश्वर की दृष्टि में तो जन्म और मृत्यु दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। गीता में भगवान्

कृष्ण और अर्जुन की दृष्टि में अन्तर कहाँ है? अर्जुन ने युद्ध के भयानक परिणाम का जो चित्र प्रस्तुत किया उसे पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि अर्जुन कोई ऐसी बात कह रहा है, जो सही नहीं है। युद्ध के उस भयानक परिणाम को कौन नहीं जानता, फिर यह युद्ध एक ही परिवार के लोगों में हो रहा है। अर्जुन जब यह कह रहा है कि हम इस युद्ध के स्थान पर भिक्षा माँगकर खा लेंगे तो अर्जुन की बात में ऊँचाई भी लग रही है, त्याग की वृत्ति भी दिखाई पड़ रही है, लेकिन बड़ी विचित्र बात है कि भगवान् अर्जुन की सहृदयता की सराहना करने के स्थान पर, अर्जुन की त्याग और वैराग्य की इतनी ऊँची बातें सराहने के स्थान पर इसकी प्रतिक्रिया हँसने में करने लगे–

प्रहसन्निव भारत। (श्रीमद्भगवद्गीता-२/१०)

अर्जुन की जो दृष्टि है, वह एक सीमा तक ठीक है। जीव तो जहाँ तक देखता है, वहाँ तक की बात ही वह बोल सकता है। जीव जब मृत्यु देखता है, तो भयभीत हो जाता है, पर जिसकी दृष्टि मृत्यु के पार भी देख रही है, उसके लिए मृत्यु क्या है? एक परिवार में किसी की मृत्यु हुई, वहाँ शोक के आँसू बहाए जा रहे हैं, लेकिन उसी समय उनका दूसरे घर में जन्म भी हो गया और वहाँ बाजे बज रहे हैं। अन्तर क्या है? जिसको केवल मृत्यु दिखलाई दे रही है, वह आँसू बहा रहा है, लेकिन जिसको मृत्यु के साथ जन्म भी दिखाई दे रहा है, उसकी दृष्टि में क्या अन्तर पड़ा? जहाँ मृत्यु हो गई, वहाँ भगवान् की आलोचना की जा रही है और जहाँ जन्म हो गया, वहाँ भगवान् को धन्यवाद दिया जा रहा है, पर ईश्वर जानता है कि वस्तुतः जन्म और मृत्यु जीवन के ही दो पक्ष हैं। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म अवश्यम्भावी है इसलिए न तो वह आलोचना से प्रभावित होता है और न प्रशंसा से प्रभावित होता है।

मृत्यु ईश्वर की दृष्टि में वैसी वस्तुतः नहीं है, जैसी जीव की दृष्टि में। अर्जुन की बात सुनकर भगवान् को यह सोचकर हँसी आ गई कि अर्जुन यदि ये बातें किसी व्यक्ति से करता, तब तो कोई आश्चर्य नहीं था, लेकिन अर्जुन को क्या हो गया है कि यह बात वह मुझसे कह रहा है? क्योंकि जीव यदि जीव से ऐसी बातें कहे तो व्यावहारिक है, लेकिन यहाँ तो बात जीव और ईश्वर के बीच में हो रही है। भगवान् को यह सोचकर हँसी आई कि अर्जुन जानता है कि सारे संसार का निर्माता

ईश्वर मैं ही हूँ। जब कोई किसी वस्तु का निर्माण करता है तो उसकी रक्षा की चिन्ता उसे होनी चाहिए कि दूसरों को होनी चाहिए? यह संसार मेरा बनाया हुआ है, मुझे इसकी उतनी चिन्ता नहीं हो रही है, जितनी चिन्ता अर्जुन को हो रही है? इसलिए भगवान् हँसते हैं और आगे चल करके भगवान् अर्जुन को एक दृष्टि देते हैं। इन दोनों दृष्टियों का महत्त्व है। ध्यान रखिएगा! इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव की दृष्टि व्यर्थ है, बल्कि इसे यों कह सकते हैं कि जीव की दृष्टि से जब प्रश्न हुआ, तब ईश्वर की दृष्टि से इसका समाधान हुआ। आगे चल करके संकेत आता है कि जब भगवान् अर्जुन को विराट् स्वरूप का दर्शन कराते हैं तो उसको अपनी आँखें देते हैं, दिव्य दृष्टि देते हैं।

ससीम को ससीम दृष्टि से देखना और विराट् को असीम दृष्टि से देखना, तो ये दो बातें हैं। हमारे पास जो आँखें हैं, वे भी सीमित हैं और आँखें जितनी दूर देख सकती हैं, उसकी भी एक सीमा है, लेकिन अगर हम विराट् को देखना चाहें, पूर्ण को देखना चाहें तो हम ससीम की दृष्टि से भी देख सकते हैं। रामायण में इसका भी पक्ष है, रामायण में भी विराट् का दर्शन है, परन्तु रामायण में भगवान् ने विराट् का दर्शन दिव्य दृष्टि देकर नहीं कराया। बड़ा मधुर प्रसंग आता है कि श्रीराम जब नन्हें बालक थे, कौसल्या अम्बा उनको स्नान करा करके, दूध पिलाकर पालने पर सुला देती हैं और इसके पश्चात् मन्दिर में पूजन करने के लिए जाती हैं, भोग लगाती हैं और फिर जैसी परम्परा है, भोग लगाकर परदा कर देती हैं। थोड़ी देर के बाद जब परदा हटाकर देखती हैं तो आश्चर्य से क्या देखती हैं कि जिस नन्हें बालक को पालने पर सुलाकर आई थीं, वह वहाँ पर नैवेद्य का स्वाद ले रहा है। घबरा गई कि बालक यहाँ पर कैसे आ गया? (उस समय तक श्रीराम अपने पैरों के बल चल भी नहीं पाते थे।) मैं अभी पालने पर सुलाकर आई थी, यहाँ यह बालक कैसे चला आया? व्याकुल होकर लौटीं तो देखा कि बालक तो पालने में वैसे ही सो रहा है–

देखा बाल तहाँ पुनि सूता। १/२००/५

फिर लौटकर आती हैं तो देखती हैं कि भगवान् नैवेद्य का स्वाद ले रहे हैं–

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा।
मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा॥ १/२००/७

माँ चकित हो गईं कि यह कैसा अद्‌भुत दृश्य है? यहाँ भी राम, वहाँ भी राम! फिर आगे चल करके संकेत आता है कि–

देखि राम जननी अकुलानी।

प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥ १/२००/८

भगवान् राघवेन्द्र कौसल्या अम्बा की यह दशा देखकर मुस्कराने लगे और केवल मुस्कराए ही नहीं, बल्कि हँसने के पश्चात् जैसे अर्जुन को विराट् रूप का दर्शन कराया, उसी प्रकार से कौसल्याजी को भी मुस्करा करके–

देखरावा मातहि निज अद्‌भुत रूप अखंड।

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥ १/२०१

माँ का आश्चर्य था कि यहाँ भी वही और वहाँ भी वही! भगवान् ने कहा कि यहाँ-वहाँ नहीं, बल्कि जहाँ भी देखो, वहाँ मैं ही तो हूँ! माँ ने पूछा कि जब सर्वत्र हैं तो दो रूपों में यह दर्शन क्यों दिया? बोले कि मेरे सामने बड़ा संकट आ गया। जब पूजन करके तुमने भोग लगाया तो मुझे भोग खाना पड़ा और दूसरी ओर तुमने मुझे बालक समझकर सुला दिया तो मुझे सोना पड़ा। मैं ही सो रहा था और मैं ही भोग खा रहा था। सोने वाला, जगने वाला, यहाँ, वहाँ, जहाँ कहीं भी दृष्टि डालें सर्वत्र मैं ही तो हूँ, लेकिन एक विशेष बात भगवान् ने की कि जैसे अर्जुन को भगवान् दिव्य दृष्टि देते हैं, कौसल्याजी को वैसी दिव्य दृष्टि देने का वर्णन रामायण में नहीं आता। केवल यही आता है कि कौसल्या अम्बा को भगवान् ने विराट् रूप का दर्शन कराया और विराट् रूप देखकर अर्जुन की तरह कौसल्याजी ने भी स्तुति की, पर इसके पश्चात् श्रीराम ने अपना रूप समेट लिया। गोस्वामीजी ने यह भी लिखा कि भगवान् ने दिव्य दृष्टि नहीं दी, इसका अभिप्राय क्या है? यह भगवान् को ससीम की दृष्टि से देखना है, इसको यों भी कह सकते हैं कि भगवान् को भक्त की दृष्टि से देखना है।

श्रीराम का अभिप्राय यह था कि इनको तो मैं इन्हीं की आँखों से देखने दूँ तो ही ठीक रहेगा। क्योंकि कहीं से मेरी आँखों से इन्होंने मुझको देख लिया और पुत्रभावना बन्द कर दिया तो सारी लीला का आनन्द ही गया। तब तो मैं मातृसुख से वंचित रह गया, वात्सल्यसुख से वंचित रह गया। इसलिए भगवान् माँ को दिव्य दृष्टि नहीं देते। वहाँ तो भक्त की

दृष्टि है, केवल जीव की दृष्टि नहीं है और गीता में भगवान् विराट् का दर्शन कराते हैं और दृष्टि भी देते हैं। कौसल्याजी को जो दर्शन कराया, वह विराट् तो था, परन्तु उसमें भयानकता नहीं है। गीता में अर्जुन को जो विराट् का दर्शन कराया वह जितना विशाल था, उतना ही भीषण भी था। अर्जुन को भीषण रूप का दर्शन और माँ को कोमल रूप से दर्शन का अभिप्राय है कि विराट् के रूप में मैं ही कोमल हूँ और मैं ही कठोर हूँ। मैं ही सुन्दर हूँ और मैं ही भयानक हूँ। कोमल दृष्टि से उस भयानक रूप को देख पाना बड़ा कठिन है।

अर्जुन ने भी भय के मारे काँपते हुए भगवान् से पूछ दिया कि मैं इतने दिनों तक आपके साथ रहा, पर पहचान नहीं पाया। आप अपना परिचय दीजिए कि आप कौन हैं? भगवान् श्रीकृष्ण परिचय दे सकते थे कि मैं वसुदेव-देवकी का पुत्र हूँ, परन्तु भगवान् ने वहाँ अपना बड़ा विचित्र परिचय दिया। अर्जुन से भगवान् ने कहा कि साक्षात् काल मैं ही हूँ–

कालोऽस्मि। (गीता-११/३२)

और आपका उद्देश्य क्या है?–

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो। (गीता-११/३२)

यह युद्ध जो हो रहा है, यह मेरी इच्छा से ही हो रहा है और इस युद्ध में सब कुछ करने वाला मैं ही हूँ, मैं ही मिटाने के लिए तुला हुआ हूँ। यह क्या अभिप्राय है? बोले कि अर्जुन! इस युद्ध को तुम अपनी दृष्टि से मत देखो, बल्कि इस दृष्टि से देखो कि इस युद्ध में काल भी मैं ही हूँ। इसका अभिप्राय क्या है? फिर वही संकेत आया। काल जन्म और मृत्यु दोनों का हेतु है कि नहीं? दस महीने में यदि वह बालक को जन्म देता है कि नहीं? कहा तो यह जाता है कि मारने वाले से जिलाने वाला बड़ा है, लेकिन यह तो बिल्कुल अधूरी बात है, क्योंकि यदि मारने-जिलाने वाले दो हों तो छोटे-बड़े की कल्पना की जाए। जब मारने और जिलाने वाला एक ही है तो क्या कहा जाए कि कौन छोटा है और कौन बड़ा है? यह तो हम लोगों की पसन्द ही है कि हम लोग चाहते हैं कि बचाएँ ही बचाएँ। इसलिए हम लोगों ने उपाधि दे रखी है कि बचाने वाला बड़ा है, लेकिन रामायण में जो वाक्य कहा गया वह है–

मारें मरिअ जिआएँ जीजै। ३/२४/४

वस्तुतः वह ईश्वर जब जिलाना चाहे, तब जीवित हो जाना है और

जब मारना चाहे, तब मर जाना है। ईश्वर के संकल्प में हमको अपना संकल्प मिला देना है और जब हम अपने संकल्प को ईश्वर के संकल्प में मिला देते हैं, तब हम सारे संकल्पों के मूल में ईश्वर को देखने लगते हैं। तब घटनाएँ वही होती हैं, संसार वही होता है, जीवन और मृत्यु वही होती है, पर उन घटनाओं का वह प्रभाव हमारे अन्तःकरण पर नहीं पड़ता है, जो प्रभाव एक साधारण व्यक्ति के अन्तःकरण पर पड़ता है। अर्जुन ने बड़ी मीठी बात कही। विराट् रूप का दर्शन करके अर्जुन को भय भी लगा और प्रसन्नता भी हुई। भगवान् ने मुस्कराकर देखा एवं कहा कि अर्जुन! प्रसन्न क्यों हो रहे हैं? अर्जुन ने कहा कि जब आपने भीष्म-द्रोण-कर्ण आदि सबको मार ही डाला है, तब फिर युद्ध क्यों? मुझे तो अब नहीं लड़ना है न! भगवान् ने पूछा कि ये मरे हुए हैं, भगवान् की दृष्टि से जीव की दृष्टि से? अर्जुन ने कहा कि मेरी दृष्टि से तो ये अभी जीवित हैं और आपने जो आँखें दीं, उनसे मरे हुए हैं। जब भगवान् ने कहा कि अब तुम जो व्यवहार चलाओगे, वह जीव की दृष्टि से चलाओगे। यह दोनों की सन्धि है।

व्यवहार ईश्वर की दृष्टि से नहीं चलेगा, व्यवहार तो जीव की दृष्टि से ही चलेगा। इसको देखने के पश्चात् अर्जुन कर्म से विरत हो करके, निष्क्रिय हो करके, यह नहीं सोच लेगा कि एक सिद्धान्त किसी से सुन लिया या पढ़ लिया कि सब कुछ ईश्वर करता है और उसके अन्तःकरण में आया कि हमको कुछ नहीं करना चाहिए या हमारे द्वारा कोई क्रिया नहीं होनी चाहिए। तब तो निष्क्रियता और तमोगुण का जीवन में प्रवेश हो जाएगा। इसका अभिप्राय वह है कि जो आगे चल करके भगवान् ने बताया कि अर्जुन! तुम जीव की दृष्टि से लड़ो और इन योद्धाओं को मारो! अर्जुन ने पूछा कि इस विराट् के दर्शन का लाभ क्या हुआ? भगवान् ने कहा कि लाभ यही हुआ कि पहले अगर यह तुमने न देखा होता तो इनके मरने के बाद तुमको लगता कि मैंने मारा, लेकिन जब तुमने देख लिया कि मारने वाला कोई और है तो इससे तुम्हारा कर्तृत्त्व का अभिमान मिट गया और तुम निमित्त बन करके—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्। (गीता-११/३३)
अब तुम कर्म तो करोगे, लेकिन कर्त्ता बनकर नहीं करोगे, निमित्त बनकर करोगे। यही ईश्वरीय दृष्टि है और इससे जब हम संसार की घटनाओं

को देखते हैं जो अमंगल है, जो प्रतिकूल है, जहाँ पर भयानकता दिखाई दे रही है, वहाँ पर भी भयानकता, प्रतिकूलता और अमंगलता वस्तुतः नहीं हो सकती, क्योंकि वह ईश्वर के विधान का ही अमिट अंग है। कैकेयी अम्बा के सन्दर्भ में जो यह पंक्ति है (जो प्रवचन के आरम्भ में ही निषादराज एवं भगवान् की उक्ति के रूप में वर्णित है) वह ईश्वर की दृष्टि से कैकेयी अम्बा को देखना और साधक की दृष्टि से कैकेयी अम्बा को देखना है, ये दोनों अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। जब हम साधक की दृष्टि से कैकेयीजी के चरित्र को देखते हैं तो उनमें न जाने कितनी कमियाँ दिखलाई देती हैं और इससे हमको उन कमियों से बचने की प्रेरणा मिलती है, लेकिन उसके बाद अन्तिम दृष्टि क्या है? कई लोग पूछते हैं कि हम प्रारब्ध को महत्त्व दें कि पुरुषार्थ को महत्त्व दें कि ईश्वर की इच्छा को महत्त्व दें? इसका सांकेतिक उत्तर यह है कि जैसे कोई रोग हो जाए तो रोग को ईश्वर की इच्छा मानकर रुक जाना, यह ईश्वरेच्छा का सही अर्थ नहीं है। हम रोग को मिटाने के लिए दवा करें, यही हमारा कर्तव्य है।

दवा के द्वारा रोग मिटता है, यह भी एक सत्य है, परन्तु इसके साथ यह भी हमें ज्ञात है कि कभी-कभी दवा के द्वारा रोग नहीं मिटता, चेष्टा करने पर भी रोग नहीं मिटता और मृत्यु भी आती है। जब दवा करने पर भी मृत्यु आ जाए, तब वहाँ पर ईश्वर की इच्छा या प्रारब्ध मानकर शान्त हो जाना चाहिए। उचित समय में उचित बात का प्रयोग करना चाहिए। कर्तव्य के समय कर्तव्य का प्रयोग कीजिए और पुरुषार्थ के समय पुरुषार्थ का प्रयोग कीजिए और बाद में जब पुरुषार्थ की सीमा समाप्त हो जाए, तब आप प्रारब्ध पर और प्रारब्ध से भी ऊपर उठकर उसको ईश्वर के ऊपर डाल दीजिए। दवा की और दवा करने पर भी मृत्यु हो गई तो फिर वहाँ पुरुषार्थ का क्या महत्त्व रह गया? उस समय दवा के महत्त्व की याद करने से आँसू बहाना पड़ेगा। उस समय तो यही मानना पड़ेगा कि मृत्यु अनिवार्य है। इसका अभिप्राय यह है कि पहले मन में दुःख आता है और बुद्धि से उसको मिटाने की हम चेष्टा करते हैं, परन्तु उसके बाद भी एक स्तर आता है कि जहाँ बुद्धि काम नहीं देती। जैसा कि भगवान् शंकर ने कहा, भगवान् शिव ने सतीजी के संशय को मिटाने का प्रयत्न किया, परन्तु आगे चलकर सतीजी ने जो कुछ किया उसको भगवान् शंकर ने—

हरि इच्छा। १/५५/६

माना, इतना ही नहीं जब सतीजी झूठ बोल गई तो शंकरजी ने हरि माया को प्रणाम किया–

बहुरि राममायहि सिरु नावा।
प्रेरि सतिहि जेंहि झूँठ कहावा॥ १/५५/५

सतीजी झूठ बोल गई कि भगवान् की माया ने झूठ बुलवा दिया? बड़ा समझने योग्य संकेत है और इसका बहुत सुन्दर क्रम है। पहले जब सतीजी के मन में संशय हो गया तो भगवान् शंकर इसको हरि-इच्छा मानकर निष्क्रिय नहीं हो गए, बल्कि सतीजी को समझाने की पूरी चेष्टा करते हैं, पहले प्रयत्न और पुरुषार्थ किया, वह साधक की दृष्टि से किया। साधक की दृष्टि से सतीप्रसंग का अर्थ यह है कि सती ने बुद्धि के अहंकार से कथा की अवहेलना की, जिससे संशय उत्पन्न हुआ और जीवन में अनेक प्रकार के विकार आ गए। हमें बुद्धि के अहंकार से बचना चाहिए, संशय से बचना चाहिए और कथा में जाकर कथाश्रवण करना चाहिए। यह साधक की दृष्टि है। हमको साधक के रूप में यही सोचना चाहिए। इस दृष्टि से शंकरजी प्रयत्न करते हैं, लेकिन जब शंकरजी प्रयत्न करते-करते थक गए और सतीजी तब भी समझ नहीं पाईं, तब शंकरजी क्या करें? हाय-हाय! करें क्या? ऐसे समय में जो बात आपको बचाएगी, वह यह है कि उसको ईश्वरेच्छा मानकर शान्त हो जाएँ। शंकरजी ने सोचा कि–

मोरेहु कहें न संसय जाहीं।
बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥ १/५१/६

जरूर ब्रह्मा इसके विपरीत हैं, भलाई नहीं है, लेकिन यह तो बुद्धि के स्तर पर शंकरजी ने सोचा, पर आगे शंकरजी और गहराई में डूब गए और तब कैसा सती का दोष और कैसी ब्रह्मा की इच्छा? तो क्या है? बोले–

हरि इच्छा भावी बलवाना।
हृदयँ बिचारत संभु सुजाना॥ १/५५/६

सुजान शंकर ने सोच लिया कि न सती, न ब्रह्मा, जो कुछ करा रहे हैं, यह सब हमारे भगवान् ही करा रहे हैं और तब कहा कि–

होइहि सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावै साखा॥ १/५१/७

यह चौपाई जीवन के अन्त में आनी चाहिए, प्रारम्भ में नहीं आनी चाहिए। पहले कीजिए और जब करते-करते सीमा समाप्त हो जाए तो हरि इच्छा मानकर शान्त हो जाना चाहिए। भगवान् शंकर ने भी अब प्रयत्न करना बन्द कर दिया। इस प्रकार पहले साधक की दृष्टि से प्रयत्न करें, यदि सफलता मिल जाए तो ठीक है, साधना की दृष्टि से हमारे जीवन के दोष दूर होंगे, पर प्रयत्न करने पर भी यदि सफलता न मिले तो अन्त में ईश्वर की इच्छा मान करके शान्त हो जाएँ। शंकरजी ने जो किया, वही हमको भी करना चाहिए। शंकरजी वट वृक्ष के नीचे बैठकर–

अस कहि लगे जपन हरिनामा। १/५१/८

भगवान् का जप करने लगे कि जो आपकी इच्छा हो, वह कराइए! जब भी कभी इच्छा के विपरीत परिवार में या समाज में घटना हो तो विश्वास के बरगद के नीचे बैठकर प्रभु का नाम जपना चाहिए। यह मानकर चलना चाहिए कि ईश्वर की जो दूरगामी इच्छा है, वही हो रहा है। ईश्वर की दृष्टि से देखें तो इसका दूसरा अर्थ है। सतीजी में अहंकार और संशय क्यों आया? और सतीजी झूठ क्यों बोल गई? इसलिए कि वे दक्षकुमारी थीं। यह साधक की दृष्टि है और दूसरी दृष्टि यह है कि यह हरिइच्छा थी। क्यों इच्छा थी? आगे चलकर भगवान् ने शंकरजी के कान में कह दिया कि जैसे मेरे जीवन में सीता का वियोग हुआ है, तभी रावण का वध होगा, उसी प्रकार जब तक सतीजी से तुम्हारा वियोग नहीं होगा, तब तक सती श्रद्धा नहीं बनेंगी, इसलिए हम दोनों ही जीवन में संकट और विपत्ति स्वीकार करें। हम रोयें और आप उनसे दूर रहें।

भगवान् राम भी तो जीवन में संकट और विपत्ति को स्वीकार किए हुए हैं। सीताजी के मन में प्रलोभन आ गया, संशय आ गया, भ्रम आ गया, स्वर्ण मृग को सच्चा मान लिया। यही सतीजी के जीवन में भी घटा और इसी घटना का परिणाम होता है कि अन्त में सतीजी हिमालय की पुत्री बनी हैं, श्रद्धा के रूप में जन्म लेती हैं। बिना अग्नि में परिपक्व हुए, बिना कठिनाई के मध्य में से यात्रा किए, श्रद्धा परिपक्व नहीं होती है, सच्चे अर्थों में श्रद्धा का उदय नहीं होता है। इसलिए भगवान् की इच्छा यह थी कि इन घटनाओं के द्वारा हम अन्त में यह बतलाएँ कि इनका अन्तिम परिणाम क्या होगा? सती का परित्याग होने पर इन सब घटनाओं का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि सतीजी पार्वती बन गई। मानो हमारे

अन्तःकरण की जो वृत्ति थी, उसमें सच्ची श्रद्धा का उदय हो गया और मंगलमय परिणाम हुआ। यही कैकेयी प्रसंग की भी बात है।

कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं और जीवन में ऐसा होता है कि जिनमें मंगल में मंगल होता है, तब तो चिन्ता की कोई बात नहीं है, लेकिन जब अमंगल में मंगल की घटना होती है, तब उसका रस ले पाना जरा कठिन है। हमारे यहाँ ईश्वर के भी दो रूप हैं–विष्णु भी ईश्वर हैं और शंकरजी भी ईश्वर हैं और दोनों ईश्वर बिल्कुल एक दूसरे से भिन्न। विष्णु को देखिए तो सुन्दर वस्त्राभूषण, पीताम्बर और आभूषणों से सजे हुए कितने सुन्दर दिखाई देते हैं? देखकर ही मन में आनन्द आ जाता है। दूसरे ईश्वर को देखिए तो डर के मारे ही प्राण सूख जाएँ, गले में मुण्डमाला है, नग्न शरीर है, साँप लिपटे हुए हैं, लेकिन याद रखिए कि हैं तो दोनों ही भगवान् के रूप। यदि एक रूप देखकर प्रसन्नता हो और दूसरा रूप देखकर घबराहट हो तो जीवन की दृष्टि अधूरी ही है, पूरी दृष्टि नहीं है। इसलिए अमंगल में जो मंगल की घटनाएँ हैं–श्रीराम का वनगमन अमंगल में मंगल है। श्रीराम का जन्म, श्रीराम का विवाह, ये मंगल में मंगल हैं।

इसका अभिप्राय है कि भगवान् जो महान् कार्य करना चाहते हैं, जिसकी भूमिका पिछले प्रवचन में आपके सामने रखी गई थी, अर्थात् भगवान् राम को जब लगा कि संसार के समक्ष सच्चे प्रेम को प्रकट करने के लिए कष्ट उठाना ही पड़ेगा। दही से मक्खन निकालने के लिए जमे हुए दही की सुन्दर आकृति के टुकड़े-टुकड़े करने ही पड़ेंगे, उसको मथना ही पड़ेगा। दही पर कितने तीव्र आघात किए जाते हैं, उसको कितनी चोट लगती होगी? परन्तु जब तक दही को कसकर नहीं मथेंगे, तब तक उसमें से मक्खन नहीं निकलेगा।

श्रीराम ने सोचा कि भरत के हृदय को मथना है, मथने के लिए जब तक भरत के हृदय में चोट नहीं लगेगी, तब तक भरतप्रेम का मक्खन प्रकट नहीं होगा। तो यह सारी योजना भगवान् राम की है। इसीलिए निषादराज भी दुःखपूर्ण वाक्य कहते हैं और उसी तरह भरतजी भी शीशम वृक्ष के नीचे कुशशय्या देखकर रोने लगे और व्याकुल होकर कहा कि मैं कैकेयी का पुत्र हूँ, मैं इस दृश्य को देखकर भी जीवित हूँ, इससे बढ़कर मेरी निष्ठुरता क्या होगी? लेकिन निषाद ने उस समय यही कहा कि जो कुछ भी हो, लेकिन मेरे मन में अब सन्देह और भ्रम नहीं है। पहले मैं

कैकेयीजी को भी दोष देता था, मैंने पहले उनकी कटु निन्दा की थी, लेकिन अब तो मैं आपसे भी अनुरोध करूँगा कि आप घटनाओं पर दृष्टि मत डालिए, परिणाम देखिए–

परिनाम मंगल जानि अपने आनिए धीरजु हिएँ। (२/२०१ छंद)

इसका परिणाम संसार के लिए कितना बड़ा कल्याणकारी होगा। भगवान् राम की योजना क्या थी? श्रीभरत अपनी भावनाओं को छिपाए हुए हैं, अपने प्रेम को, अपने व्यक्तित्व को छिपाए हुए हैं और जब तक ये प्रकट नहीं होंगे, तब तक कल्याण नहीं होगा। भरत का आदर्श महान् है। अधूरे आदर्श वाले महापुरुष तो संसार में आते रहते हैं, जिनमें एक-दो विशेषताएँ होती हैं, परन्तु ऐसा महापुरुष कि जिसके द्वारा पूर्ण चरित्र, पूर्ण धर्म, पूर्ण प्रेम संसार के सामने प्रकट हो, उसके लिए भरत को मथना होगा, जिससे भरत के हृदय में ऐसी चोट लगे कि वे कराह उठें। वैसे चले जा रहे हैं, परन्तु ठोकर लगने पर मुँह से आह तो निकलती है। भरत के मुँह से पीड़ा के मारे जो कराह निकलेगी, तब उस पीड़ा में से ही तो सच्चे प्रेम का प्राकट्य होगा और इसके लिए उपाय क्या है? भगवान् राम ने कैकेयीजी से ही यह सब क्यों कराया? भरत को निमित्त बना करके ही क्यों कराया? इसलिए कि भरत के हृदय पर करारी चोट पहुँचे। भरत के हृदय पर सबसे करारी चोट क्या थी? इतना बड़ा अनर्थ मेरी माँ ने किया, वह भी किया मेरे लिए! सारे अनर्थों का हेतु मैं हूँ। भगवान् राम की योजना यह थी कि जब तक कैकेयी को कलंक देकर के श्रीभरत के हृदय पर ऐसी चोट नहीं पहुँचाई जाएगी तब तक संसार के समक्ष सच्चा आदर्श किसी प्रकार से नहीं आएगा। इसलिए जो कुछ हुआ, वह योजनानुसार हुआ, जैसी पिछले प्रवचन में आपके सामने बात कही गई थी। समुद्र के मन्थन के लिए मथानी और रस्सी चाहिए। कैकेयी के दोनों वरदानों में एक रस्सी है और एक मथानी है। चौदह वर्ष वनवास जो माँगा, यही मानो मथानी है और भरत के लिए राज्य माँगा, यही मानो वासुकि नाग है और इन दोनों वरदानों का परिणाम यह हुआ कि भरत रूपी गम्भीर समुद्र का मन्थन हुआ।

समुद्र से अमृत तो निकला ही, पर उसके साथ-साथ तेरह रत्न और भी निकले, इसी प्रकार भरत-समुद्र के मन्थन से भी उनके सद्गुणों के इतने रत्न प्रकट हुए और भी विलक्षणता यह है कि संसार के समुद्र से

जो रत्न निकले, उनका बँटवारा हो गया और उनमें भी कुछ वस्तुएँ अच्छी थीं और कुछ बुरी थीं। लेकिन भरतसमुद्र के मन्थन से जितने रत्न निकले, वे सब सुन्दर ही थे, लेकिन उन अनन्त गुणों में भी यदि चौदह गुणों को छाँट लें तो चौदह गुण श्रीभरत के चौदह रत्न हैं, परन्तु उनकी विशेषता क्या है? उनके चौदह गुण एक-एक करके प्रकट होते गए और लोग बिना बँटवारे के इच्छित मात्रा में ग्रहण करते गए एवं उन गुणों के द्वारा संसार के जीवों का परम कल्याण होता गया तथा अन्त में प्रेम का अमृत निकला, जिसे पीकर जीव धन्य हो गया। सबसे पहले क्या निकला? कैकेयीजी को श्रीभरत कठोर शब्द कहते हैं–या तो भरत बोलते ही नहीं थे, पर फिर जब बोले तो सबसे पहले कैकेयीजी के लिए इतने कठोर शब्द बोले कि सुनकर आश्चर्य होता है। जब भरत ने माँ के लिए भर्त्सना करते हुए कह दिया–

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ।
खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥
भूपँ प्रतीति तोरि किमि कीन्ही।
मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही॥ २/१६१/१-३

यहाँ से भरत-समुद्र का मन्थन प्रारम्भ हो गया। भगवान् प्रसन्न हो रहे हैं। इस कठोरता में भी कल्याण हो रहा है। जैसे समुद्रमन्थन में प्रथम हलाहल निकला था। उस हलाहल को पी करके शंकरजी धन्य हो गए। बेचारे देवता तो यही समझ रहे थे कि अमृत पीकर ही अमर हुआ जाता है, परन्तु भगवान् विष्णु ने देवताओं से कहा कि शंकरजी से कहो कि वे विष पी लें और शंकरजी ने मुस्कराकर विष का स्वागत किया और सचमुच विष पी लिया और उससे अमर हो गए। श्रीभरत के मुख से निकलने वाली यह कड़वी फटकार लगती तो जहर की तरह है, लेकिन इस जहर को कैकेयीजी को ही पीना पड़ा, इसे और कौन पीता? इस विषपान का प्रभाव कैकेयीजी के जीवन में इतना मंगलमय हुआ, इतना कल्याणकारी हुआ कि उनको अपना पुत्र समझकर जो आसक्ति थी, ममता थी, वह मिट गई।

ममता या आसक्ति का जीवन में छूट पाना बड़ा कठिन होता है।

उपाय क्या है? ममता-आसक्ति का नियम यह है कि जिससे हमारी आसक्ति और ममता हो, उससे यदि बदले में हमको स्नेह का व्यवहार मिले तो ममता और आसक्ति बढ़ेगी, घटेगी नहीं। इसलिए सच बात तो यह है कि भगवान् राम ने दूर तक देख लिया। इसलिए भगवान् तो स्नेह से लोगों से कहते हैं कि कैकेयी अम्बा ने जो कुछ किया, उसमें सबको कुछ न कुछ मिला ही मिला, घाटा किसका हुआ? यदि लोगों को मेरे प्रति सहानुभूति है कि राम को घाटा हुआ, जैसा कि वाल्मीकिजी ने संवेदना प्रकट करते हुए कहा कि युवावस्था में तुमको वन में कष्ट उठाने के लिए आना पड़ा, राज्य से वंचित रहना पड़ा। कितने बड़े दुर्भाग्य की घटना है? तो श्रीराम ने मुस्कराकर कहा कि नहीं महाराज! संसार में जितनी घटनाएँ होती हैं, उनमें कुछ न कुछ अच्छाई भी होती है और बुराई भी होती है, लेकिन यदि कोई मेरी दृष्टि से पूछे तो कैकेयी अम्बा ने जो दो वरदान माँगे हैं, उनमें केवल अच्छाई ही अच्छाई है। बुराई तो है ही नहीं। भगवान् राम ने अच्छाइयों को गिनाया कि–

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ॥ २/१२५

पिताजी ने माँ को वचन दिया था, मेरे वन आने से वह पिताजी का ऋण उतर गया। कोई उऋणी शरीर छोड़ दे और ऋण न चुका पाए तो कहा जाता है उसको कष्ट भोगना पड़ता है। यदि हमारे पिताजी अपने दिए हुए वचन को पूरा न कर पाते तो कितना बड़ा भार उन पर बना रहता। एक रहस्य भगवान् का और भी था। दशरथजी घाटे में नहीं रहे। दशरथजी पूर्व जन्म में मनु थे, परन्तु उनके जीवन में सब कुछ पाने के बाद भी बड़ा दुःख था, इस बात का कि वैराग्य नहीं था–

होइ न बिषय बिराग। १/१४२

और जब दशरथ बने, तब भी वैराग्य नहीं हुआ, क्योंकि किसी वस्तु से मन तब हटेगा, वैराग्य तब होगा, जब वह वस्तु दुःखद लगे, दोषपूर्ण दिखाई दे। मनु और दशरथ की समस्या यह थी कि दोनों जन्मों में जो परिवार मिला, वह सबका सब अनुकूल मिला, पत्नी और पुत्र सब अनुकूल मिले कि जिससे संग बढ़ता ही गया, घटा नहीं, परन्तु अब कैकेयीजी ने श्रीराम को वन भेजने का वरदान माँगकर जैसा व्यवहार किया, उससे दशरथजी को अभी तक जो वैराग्य नहीं प्राप्त हुआ था, वह वैराग्य सहज

में ही प्राप्त हो गया, यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। फिर माँ कैकेयीजी की भी इच्छा पूरी हो गई। माँ कैकेयी ने अट्ठाइस वर्ष तक मेरी इच्छा पूरी की और चौदह वर्ष का वन माँगा। तब भी मुझे इतना सन्तोष है कि माँ की प्रसन्नता के लिए मैं वन आया, इससे माँ का हित हुआ, यह दूसरा लाभ है। परन्तु महर्षि इतनी सरलता से मानने वाल नहीं थे।

महर्षि ने कहा कि राम! तुम बड़े चतुर व्याख्याता हो, तुमने माता-पिता का हित तो देखा, लेकिन तुमने समाज के हित पर दृष्टि नहीं डाली। केवल दो ही व्यक्ति यह चाहते थे, कैकेयी और मन्थरा कि तुम्हारा राज्य न हो और अयोध्या के लाखों व्यक्ति यह चाहते थे कि तुम अयोध्या के सिंहासन पर बैठो। तुम्हारे वन चले आने से उन सबकी आशा टूट गई और कितना बड़ा संकट उन लोगों को हुआ। तुमने केवल दो व्यक्तियों के सुख के लिए लाखों व्यक्तियों के संकट को नहीं देखा। भगवान् राम ने महर्षि के चरणों को पकड़ लिया और बोले कि महाराज! मैं क्या बताऊँ? प्रजा को अभी भ्रम हो गया है, लेकिन जब प्रजा का भ्रम टूटेगा तो प्रजा समझ जाएगी कि मुझे खो करके उसने खोया नहीं है, मुझे खो करके प्रजा ने इतना पा लिया है कि जो मेरे द्वारा सिंहासन पाने पर भी असम्भव था—

भाइ भरत अस राउ। २/१२५

भाई भरत जैसा उनको राजा मिला। अयोध्या वाले तो नहीं जानते हैं, परन्तु आपको तो ऐसा नहीं सोचना चाहिए। अयोध्या वाले सोचते हैं कि मैं बड़ा अच्छा राज्य चलाऊँगा, लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि भाई भरत जैसा राज्य चलाएगा, वैसी राज्य चलाने की शक्ति तो मुझमें है ही नहीं। अभी तक उन लोगों ने उसकी गरिमा और महिमा को देखा नहीं है। भगवान् श्रीराघवेन्द्र तो बार-बार यही कहते हैं कि भरत से मेरी क्या तुलना है? भरत के राज्य से मेरे राज्य की क्या तुलना है?

श्रीराम तो सारा श्रेय श्रीभरत को देते हैं। आगे चलकर गोस्वामीजी ने संकेत भी किया कि जब श्रीराम वन की ओर चले तो अयोध्या के नागरिकों ने कैकेयी और भरत के विरुद्ध सविनय अवज्ञा कर दिया, जिसको आजकल की भाषा में सत्याग्रह कहते हैं। उन लोगों के मन में कैकेयीजी और भरत के प्रति इतना विद्वेष, इतनी घृणा उत्पन्न हुई कि अयोध्यावासियों ने निर्णय कर लिया कि हम सब लोग अयोध्या छोड़ करके श्रीराम के साथ वन में रहेंगे। भरत को राज्य करना है तो वे कैकेयी

के पुत्र हैं, सोने के महलों पर, ईंट और पत्थरों पर राज्य करें, कोई भी जीवित व्यक्ति उनके राज्य में, अयोध्या में नहीं रहेगा। भगवान् राम लोगों को समझाते हैं। आप लोग मेरी बात मानिए और लौट जाइए! नहीं, नहीं, महाराज! हम लोग आपके बिना नहीं रह सकते। हम लोग तो निरन्तर रामराज्य का स्वप्न देखते हैं। किसी दूसरे के राज्य की कल्पना नहीं करते। भगवान् राम समझ गए। अभी मेरी विशेषताओं, मेरे शील, मेरे प्रेम और मेरे चरित्र से तो ये परिचित हैं, परन्तु अभी तक इन बेचारों ने भरत का शील और चरित्र तो देखा ही नहीं है। इनका क्या दोष है? कैसे इनको समझाएँ कि तुम लोग एक बार श्रीभरत के राज्य में रहकर देखो तो मेरा राज्य भूल जाओगे।

भगवान् राम ने एक बड़ा सुन्दर नाटक किया। उसी समय सुमन्त्रजी रथ लेकर आए और कहा कि पिताजी ने रथ भेजा है, आप तीनों लोग इस रथ पर बैठ जाइए। अब आप लोग सोचिए! भगवान् राम तो दो दिन रथ पर बैठे, जिनको चौदह वर्ष पैदल चलना है, उनको दो दिन तक रथ पर बैठने की क्या आवश्यकता है? भगवान् राम सीधे कह देते कि नहीं, नहीं, मैं रथ पर नहीं बैठूँगा। यह उदासी व्रत के विरुद्ध है। चौदह वर्ष बिना रथ के रहूँगा, फिर दो दिन के लिए रथ लेकर क्या करूँगा? परन्तु श्रीराम जो रथ पर बैठ गए, उसके पीछे उनकी बड़ी दूरगामी योजना थी, वे तो अन्तर्यामी होकर भविष्य देख रहे थे कि बाद में भरत भी आएँगे और वे भी मेरी तरह ही यात्रा करेंगे तथा आज जो लोग मेरे साथ जा रहे हैं, वे लोग भरत के साथ भी जाएँगे और तब वे लोग मेरे और भरत के अन्तर को समझ पाएँगे कि दोनों में कौन महान् है?

भगवान् राम भरत की महत्ता को प्रकट करने के लिए जानबूझकर रथ पर बैठ गए कि पीछे-पीछे उनकी प्रजा चल रही है, रथ के साथ चलने में उनको दौड़ना भी पड़ रहा है, पर भगवान् राम जानबूझकर रथ पर बैठे हुए हैं। दिनभर बेचारे रथ के साथ दौड़ते रहे, जब सायंकाल हुआ, तब थक करके प्रजा और पुरवासी सो गए और तब भगवान् श्रीराम ने सुमन्त्रजी से कहा कि अब आप कृपा करके मुझे यहाँ से ले चलिए, क्योंकि ये लोग मेरे साथ रहकर कष्ट उठाएँगे। श्रीराम की योजना यह थी कि वे यह बताना चाहते थे कि मेरी और भरत की तुलना करके देख लो। लिखा हुआ है कि जब श्रीभरत ने चित्रकूट की यात्रा की तो अयोध्या

के सब नागरिकों के लिए वाहन की व्यवस्था की। पालकी, घोड़े, रथ एवं अश्व जो जिसको चाहिए, उसकी व्यवस्था श्रीभरतजी ने की और सबके लिए सवारी की व्यवस्था करके श्रीभरतजी स्वयं कैसे चले–

झलका झलकत पायन्ह कैसें। २/२०३/१

श्रीभरत के पैरों में फफोले हैं। मानो श्रीराम ने पुरवासियों से पूछा कि तुम लोगों ने मेरे साथ भी यात्रा की और भरत के साथ भी यात्रा की। तुमने अन्तर देखा? मैं तो स्वयं रथ पर बैठा और तुम लोगों को पैदल दौड़ाया और श्रीभरत ने तुम लोगों को रथ पर बैठाया और स्वयं पैदल चले। इतना शील जो श्रीभरत में है, मुझमें नहीं है। भगवान् चाहते हैं कि लोग श्रीभरत के गौरव को जानें। राम सबको सोता हुआ छोड़ करके चले गए। इससे भी श्रीराम, भरत का और अपना अन्तर बताना चाहते हैं। भगवान् राम नींद लेते हुए नागरिकों को छोड़कर चले जाते हैं। अयोध्यावासियों को लगा कि न नींद आई होती और न प्रभु का साथ छूटता! लेकिन नींद छोड़ना सरल थोड़े ही है! पलँग छोड़ना सरल है, पर नींद छोड़ना सरल नहीं है। पलँग तो सब छोड़ ही आए थे और मन में सब यही समझ रहे थे कि हम तो सब कुछ छोड़कर ही साथ आए हैं, लेकिन नींद ने बता दिया कि हम तो तुम्हारे साथ ही रहेंगे। नींद कब छूटी? जब श्रीभरत का संग मिला। भरतजी ने कहा कि कल हम प्रभु का दर्शन करने चलेंगे। वे प्रभु के साथ तो सो गए और जब भरत के मुँह से केवल एक वाक्य निकला कि–

प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं। २/१८२/२

प्रातःकाल भगवान् राम के पास चलेंगे, ज्योंही यह घोषणा श्रीभरत ने की, सब अपने-अपने घरों को लौट आए, पलँग पर लेट गए, लेकिन भरत की वाणी का कितना प्रभाव पड़ गया कि–

जागत सब निसि भयउ बिहाना। २/१८६/२

उस रात किसी को नींद नहीं आई, सब जागते रहे। श्रीराम मानो बताना चाहते हैं कि मेरे पास पहुँचने का उपाय भरत का चरित्र है। मेरे पीछे चलकर मेरे पास नहीं पहुँच सकते। भरत के पीछे चलकर ही मुझ तक पहुँच सकते हो। भरत हर दृष्टि से मुझसे श्रेष्ठ हैं। श्रीराम ने महर्षि वाल्मीकिजी से कहा कि अयोध्या के नागरिक अभी तक भ्रम में हैं, वे भरत को नहीं जानते। इसीलिए मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ

कि प्रजा को मुझसे अच्छा राजा मिला, योग्य राजा मिला। इसीलिए तो गुरु वसिष्ठ ने जब श्रीराम से कहा कि राम तुम स्नान करो, अब सिंहासन पर बैठने का समय निकट आ रहा है तो श्रीराम ने पहले अपने मित्रों को, बन्दरों को स्नान कराने की आज्ञा सब सेवकों को दी और इसके बाद भरत से बोले कि तुम तो सदा ही मेरी आज्ञा मानते आए हो, लेकिन आज तो राजा के रूप में मेरी बात टाली नहीं जा सकती। क्या आज्ञा है? प्रभु ने कहा कि तुम इस आसन पर बैठ जाओ और अपने स्नान करने के आसन पर भरत को बैठा दिया तथा भरतजी की जटाओं को सुलझाने लगे–

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे।
निज कर राम जटा निरुआरे॥ ७/१०/४

कितना जटिल काम है, उलझे हुए बालों को सुलझाना? खास करके जब बालों में वट का दूध भी डाल दिया गया हो। भरतजी तो व्याकुल हो गए कि अभिषेक की घड़ी निकट आ रही है और आप क्यों कष्ट करने लगे? श्रीराम ने कहा कि भरत! सिंहासन पर बैठकर राजा क्या करता है? राजा का काम प्रजा की समस्याओं को सुलझाना ही तो है, पर तुमने मेरे सुलझाने के लिए तो कुछ छोड़ा ही नहीं, अब तो मुझे केवल ये बाल ही तो सुलझाने हैं, बाकी सब सुलझ गया। अब तो सिंहासन पर केवल शोभा के लिए बैठना मात्र है। भगवान् राम यह मानते हैं कि वस्तुतः आन्तरिक जो क्रान्ति है, परिवर्तन है, वह तो भरतचरित्र के द्वारा ही होता है, इसलिए श्रीराम बड़े गर्व के साथ महर्षि वाल्मीकि से कहते हैं–**'भाइ भरत अस राउ'**। वाल्मीकिजी ने हँस करके कहा कि अच्छा, तुमने दूसरों के लिए इतना कष्ट उठाया! तो श्रीराम ने हँसकर कहा कि नहीं महाराज! चारों फलों का बँटवारा हो गया है। यह वनयात्रा नहीं है, यह चारों फलों का बँटवारा है और मैं इतना स्वार्थी निकला कि सबसे बड़ा फल मैंने ले लिया। चार फल हैं–अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष। काम तो मिला हमारी कैकेयी अम्बा को, माँ की मनोकामना पूरी हुई। पिताजी को मिला धर्म और भरत को मिला अर्थ और सबसे बड़ा फल जो मोक्ष था, मैं इतना बड़ा स्वार्थी निकला कि वह सबसे बड़ा फल मुझे मिल गया। मुझे मिला–

मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ। २/१२५

आप जैसे सन्त का मुझे दर्शन मिला! सन्त के दर्शन से मुक्ति होती है।

आप ही बताइए कि इस घटना में कितना मंगल है? वाल्मीकिजी ने राम को हृदय से लगा लिया कि तुम्हारी जैसी व्याख्या और तुम्हारी जैसी दृष्टि से यदि देखें तो ऐसा ही लगता है। संकेत यह है कि कैकेयीजी मूर्तिमती क्रिया हैं और जब क्रियायोग में तीनों दोष होते हैं तो क्रियायोग से पतन होता है। इन तीनों दोषों को मिटा करके यदि क्रिया का आश्रय लें तो जीवन में ईश्वर की प्राप्ति होती है और वे तीन दोष हैं–कर्तृत्व, आसक्ति और कर्मफल की आकांक्षा। कैकेयी के चरित्र में जब इन तीनों का उदय हुआ तो श्रीराम वन चले गए, ईश्वर जीवन से दूर चला गया। बाद में श्रीभरत ने अपने चरित्र को उलट दिया, भरत में कर्तृत्व नहीं, भरत में आसक्ति नहीं, भरत में कर्म-फलाकांक्षा नहीं और इस तरह से जो रामराज्य बना, वह भरत के चरित्र के द्वारा बना, इसलिए भगवान् राम कहते हैं कि अगर कैकेयी अम्बा कठोर बनकर मुझे वन में नहीं भेजतीं, अगर भरत के हृदय पर कठिनतम चोट न लगती तो जो संसार को श्रेष्ठतम प्रेम की प्राप्ति हुई, वह न होती, इसलिए श्रीराम ने कहा कि–**दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।** अन्तिम इच्छा ईश्वर की होती है, वह अकल्याण में भी, अमंगल में भी मंगल की सृष्टि करती है। अब अगले प्रवचन में शेष बातें आपके सामने रखूँगा।

□□

दशम प्रवचन

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह॥ २/६१
दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥ २/२६२/८

आइए! इस कथा प्रसंग के समापन में श्रीकैकेयीजी के चरित्र पर थोड़ा विचार करें। वस्तुतः कैकेयीजी की निन्दनीयता या उनकी वन्दनीयता से विशेष लाभ होने वाला नहीं है। यदि हम भी कैकेयी की कटु आलोचना करें और उन्हीं भूलों को जीवन में दोहराएँ तो उनकी निन्दा का कोई तात्पर्य नहीं है। अगर हमसे आगे कोई चल रहा हो और वह ठोकर खाकर गिर पड़े तो उसकी निन्दा न कीजिए, उसे उठाने की चेष्टा तो की ही जानी चाहिए, साथ ही साथ उसे थोड़ा धन्यवाद भी दीजिए कि उसने आपको चेतावनी दे दी कि इस मार्ग में ऐसी कोई वस्तु है कि जिससे ठोकर लग सकती है। अतः हमें भी सावधानी से चलना चाहिए।

कैकेयी अम्बा के चरित्र में यदि कुछ पतन दिखाई देता है, कुछ विकृति दिखाई देती है तो मानो हमें सावधान करने के लिए है कि इन विकृतियों से हमें सावधान व दूर रहना चाहिए। इसी प्रकार से यदि कोई कैकेयी के गुणों का गद्‌गद शब्दों में वर्णन करता है और कैकेयीजी की महिमा की दृष्टि उसके जीवन में नहीं आती है तो वन्दना के द्वारा हमें तत्काल आनन्द की अनुभूति तो हो सकती है, लेकिन वन्दना का कोई वास्तविक प्रभाव जीवन पर नहीं पड़ेगा। वस्तुतः कैकेयीजी की वन्दना और निन्दा ये जीवन के दो पक्ष हैं और इसके लिए दो मूल सूत्र दिए गए हैं। एक तो यह है कि वे कैकयराज की बेटी हैं, यही निन्दापरक है–

कैकयनन्दिनि मन्दमति। २/९१

और दूसरा सूत्र वे वन्दना के लिए देते हैं कि वे श्रीभरत की माता हैं–

भरत मातु मुसुकानि।

जब वे कैकयराज के संस्कारों से प्रेरित होकर कार्य करती हैं, तब उनका चरित्र निन्दनीय हो जाता है, लेकिन अन्त में जब उनके माध्यम से भरत जैसे सन्त का जन्म होता है और जो उन दोषों का परिमार्जन करके धर्म का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, तो मानो हमारे लिए कैकेयी अम्बा वन्दनीय हो जाती है। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है कि जिसमें कोई त्याज्य वस्तु न हो। जैसे आम के फल में तीन भाग हैं, छिलका, गुठली और रस तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्ति के लिए रस ग्राह्य है, छिलका और गुठली नहीं। हमें आम से रस ही लेना चाहिए परन्तु छिलके और गुठली के बिना केवल रस के होने की कल्पना करना सही नहीं है। जितनी वस्तुएँ हैं, उनमें कुछ-न-कुछ भाग त्याज्य होता है। गन्ने में भी रस के साथ-साथ दूसरी वस्तु भी होती है, जो त्याज्य है। उसी प्रकार कैकेयीजी का चरित्र एक फल की तरह है, जिसमें छिलका और गुठली अलग कर दें और श्रीभरत के चरित्र का जो दिव्य रस है, उस रस को यदि हम जीवन में ग्रहण कर लें तो अन्त में हम कैकेयीजी के बड़े कृतज्ञ होंगे।

आम के छिलके की यह उपयोगिता है कि उसके कारण ही आम का रस मलिन होने से बचा हुआ है, लेकिन जब हम रस पीने लगेंगे तो छिलके को अलग कर देंगे। इसी प्रकार से कैकेयीजी के चरित्र में छिलका क्या है? जो पहले दिखाई देता है अर्थात् ऊपर वाला भाग। कैकेयीजी क्रियामयी हैं और क्रिया में जो दोष और गुण दोनों होते हैं, वे कैकेयीजी में विद्यमान हैं। क्रिया में पहला दोष है प्रदर्शन की वृत्ति या सात्त्विक अहंकार।

यदि क्रिया में सात्त्विक अहंकार न हो तो व्यक्ति को सत्कर्म की प्रेरणा नहीं मिलती। जो भी सत्कर्म हमारे द्वारा होते हैं, उनमें सात्त्विक अहंकार के साथ-साथ कुछ दिखाने की वृत्ति भी होती है, अभिमान होता है और यही छिलका है। कैकेयीजी का जन्म तो इसी तरह से होता है, कैकयनरेश मानों सात्त्विक अहंकार और प्रदर्शन हैं, जो मानो छिलके वाली बात है। उनकी पुत्री के रूप में कैकेयीजी के चरित्र में सात्त्विक अहंकार

भी विद्यमान है। कैकेयीजी प्रारम्भ में श्रीराम के प्रति इतनी उदार हैं कि वे प्रारम्भ में महाराज श्रीदशरथ से यह प्रस्ताव कर चुकी हैं कि राज्य तो श्रीराम को मिलना चाहिए, तो इसके पीछे कैकेयीजी की यह भावना थी कि जब राम अपनी माता की अपेक्षा मुझे अधिक चाहते हैं तो मुझे भी अपने बेटे की अपेक्षा उनको अधिक चाहना चाहिए। यह चाहिए वाली बात जरा अधिक खतरनाक है।

इसका अभिप्राय यह है कि इतने ऊँचे व्यवहार में भी बदला चुकाने की वृत्ति है। यदि राम अपनी माँ को अधिक महत्त्व देते तो मैं भी अपने बेटे को अधिक महत्त्व देती, परन्तु राम जब मुझे अधिक महत्त्व देते हैं तो मैं भी राम को अधिक महत्त्व दूँगी। परिणाम क्या हुआ? जब प्रदर्शन और सात्त्विक अहंकार की वृत्ति से कोई क्रिया की जाती है तो क्या होता है? जैसा कि वर्णन आता है धनुषयज्ञ के प्रसंग में। शंकरजी का धनुष वस्तुतः अहंकार और कर्तृत्व का ही प्रतीक है और इन पर विजय पाने वाला ही वस्तुतः जनकनन्दिनी सीता को प्राप्त करने का अधिकारी है। जनक की प्रतिज्ञा के अर्थ पर राजाओं का ध्यान नहीं गया और बन्दीजनों की घोषणा सुनते ही सारी सभा में भगदड़ मच गई और प्रत्येक राजा कमर में फेंटा कसकर धनुष की ओर भागा, क्योंकि प्रत्येक राजा को यह चिन्ता हो गई कि कहीं मुझसे पहले कोई दूसरा राजा धनुष को तोड़ करके सीता को न पा ले और हम वंचित रह जाएँ। हम ही सबसे पहले जाएँ। उन सबने अपने-अपने इष्ट देवता का स्तोत्र पाठ भी किया। धनुष तोड़ने जा रहे हैं तो मानो अहंकार पर विजय प्राप्त करने जा रहे हैं और स्तोत्रपाठ से लगता है कि ये बड़े सात्त्विक स्वभाव के हैं। गोस्वामीजी ने व्यंग्य किया–

रहउ चढ़ाउब तोरब भाई।
तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥ १/२५१/२

पूजापाठ सात्त्विक वृत्ति है, परन्तु इसमें भी जो स्वार्थपरता मिली हुई है और प्रदर्शन की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि वे ताल ठोंकते हैं, गर्जना करते हैं–

तमकि ताकि तकि सिवधनु धरहीं।
उठइ न कोटि भाँति बलु करहीं॥ १/२४९/७

गर्जना इसलिए है कि कहीं मैंने धनुष तोड़ दिया और लोगों ने मुझे तोड़ते हुए न देखा तो फिर तोड़ने में आनन्द क्या है? अर्थात् दिखावे

की वृत्ति है। व्यंग्य है कि जितने लोग पूजा-पाठ करते हैं, उन सबकी कामना क्या पूर्ण हो ही जाती है? यदि नहीं होती है तो क्या इसमें देवताओं की कोई कमी है क्या? व्यंग्य यह है कि कोई गणेशजी से प्रार्थना करता है कि मुझसे धनुष टूट जाए, वहाँ गणेशजी के हजारों दूसरे भक्त यह प्रार्थना करते हैं कि इससे धनुष टूटने न पाए। एक मना रहा है कि टूटे और दूसरे हजारों मना रहे हैं कि न टूटे। गणेशजी किसकी बात मानें? जितने पूजापाठ हो रहे हैं, उसमें हम पड़ोसियों के लिए, अपने विरोधियों के लिए जो कुछ माँग रहे हैं, उसमें देवता बेचारे किस संकल्प की पूर्ति करें, किसकी पूजा को स्वीकार करें? व्यंग्य यह है कि उनके लिए अहं को तोड़ना सम्भव नहीं है, धनुष को तोड़ने की बात ही क्या है? धनुष को उठाने की क्षमता भी उनमें नहीं है, बाद में जब धनुष हिला भी नहीं तो बेचारे लज्जा के मारे सिर झुका कर बैठ गए। इस समय श्रीराम तो उठे ही नहीं। जब लक्ष्मणजी ने गर्जना की और विश्वामित्रजी ने आदेश दिया, तब श्रीराम उठे, गुरुदेव के चरणों में प्रणाम किया और धीरे-धीरे धनुष के पास गए, न ताल ठोंका और न गर्जना की, बल्कि उल्टी बात हो गई, किसी ने देखा नहीं–

लेत चढ़ावत खेंचत गाढ़ें।
काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें॥ १/२६०/७

राजाओं की चेष्टा थी कि धनुष टूटे, चाहे न टूटे, पर हमको सब देख लें और भगवान् राम चाहते हैं कि क्रिया होनी चाहिए। कौन करता है? इसको जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। कर्त्तृत्व के प्रदर्शन के बिना क्रिया सम्पन्न होनी चाहिए। अहंकार को कौन तोड़ेगा? अहंकारी अहंकार को क्या जीतेगा? वस्तुतः जिनमें प्रदर्शन की वृत्ति थी ही नहीं, उसी व्यक्ति के द्वारा अहम् पर विजय हुई। अहंकार शून्य जो क्रिया है, यही धनुर्भंग के रूप में दिखाई देती है।

यद्यपि इसकी बड़ी विपरीत प्रतिक्रिया हुई, राजा इसको मानने के लिए तैयार ही नहीं थे, वे तो युद्ध करने के लिए तैयार हो गए। उनका कहना था कि धनुष तो टूट गया, पर तोड़ने वाला कौन है? यह तो हमें दिखाई ही नहीं पड़ा कि किसने तोड़ा? न तो तोड़ने के पहले ऐसा लगा कि ये तोड़ने जा रहे हैं और तोड़ने के बाद भी विजेता के मुख पर जो कान्ति और गर्व आता है तथा जो प्रसन्नता दिखाई देती है, वह तो इनके

मुख पर कहीं नहीं दिखाई दे रही है। इसलिए वास्तव में इन्होंने धनुष नहीं तोड़ा है, जनक से मिल करके यह धनुष टूटा हुआ दिखलाया जा रहा है, इसमें तो कोई षड्यन्त्र है, इन्द्रजाल है। हम इसको तोड़ना नहीं मानेंगे–

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ।
धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ॥ १/२६५/३

हम लोग लड़कर सीता को छीन लें। इसका अभिप्राय है कि जहाँ प्रदर्शनरहित कर्म है, जहाँ अहंकाररहित कर्म है, वहाँ जो दिखावे के अभ्यस्त हैं, उनको तो विश्वास ही नहीं होता है कि इतना बड़ा कार्य करने के बाद भी कोई व्यक्ति इतना शान्त रह सकता है? इसलिए वे योजना बना रहे हैं और तब इनकी खबर लेने के लिए परशुरामजी आ गए। परशुराम में भी सत्कर्म है, त्याग है, निष्कामता है, लेकिन अन्त में परशुराम अपना धनुष राम को देकर चले जाते हैं, इसका तात्त्विक अर्थ यह है कि परशुराम ने राम के समक्ष अपनी कमी का अनुभव किया। वह कमी यह है कि वहाँ पर भी मैं की वृत्ति विद्यमान है। सात्त्विक अहंकार की वृत्ति विद्यमान है। दोनों रामों में अन्तर यही है। परशुरामजी भी यह कल्पना नहीं कर पाए कि धनुष तोड़ने वाला इतना निरहंकारी और कोमल स्वभाव वाला राम हो सकता है? राम तो सामने खड़े थे और वहाँ पर उनकी निरभिमानिता की वृत्ति दिखाई देती है। परशुरामजी के आने का अभिप्राय क्या है?

श्रीराम ने शंकरजी के धनुष के रूप में जो अभिमान था, उस अभिमान को निरभिमानिता के द्वारा तोड़ दिया, कर्त्तृत्व को अकर्त्तृत्व के द्वारा जीत लिया, पर जैसे लोहे को काटने के लिए कभी-कभी लोहे का प्रयोग करना पड़ता है, इसी प्रकार से इन राजाओं के छुद्र अहंकार को काटने के लिए परशुराम को जो महदुअहंकार है, वह आया। उन राजाओं में तो रजोगुणी और तमोगुणी अहंकार है, परन्तु परशुरामजी के चरित्र में तो सात्त्विक अहंकार है, उनके अहंकार के द्वारा राजाओं को दबाया गया। गोस्वामीजी ने बड़ा मीठा व्यंग्य किया कि जिस समय परशुराम आए तो राम को सब भूल गए। दिखावे वाले राम को सबने प्रणाम किया और जो पूर्ण राम थे, उनको कोई प्रणाम नहीं कर रहा है–

पितु समेत कहि कहि निज नामा।
लगे करन सब दंड प्रनामा॥ १/२६८/२

श्रीराम से तो लड़ने के लिए तैयार हैं, पर परशुरामजी का फरसा देखते ही सब दण्ड प्रणाम करने लग गए। फिर जब परशुरामजी ने पूछा कि अरे मूर्ख जनक! बता!! धनुष किसने तोड़ा है? तो सुनकर राजाओं ने देवताओं को धन्यवाद दिया कि अच्छा हुआ कि जो हमसे धनुष नहीं तुड़वाया। नहीं तो हमारा ही सिर परशुराम काटते! परशुराम से स्वयं तो डरे ही, परन्तु जब राम से परशुराम का वार्तालाप हुआ तो लिखा हुआ है कि–

कुटिल भूप हरषे मन माहीं। १/२६६/५

बड़े प्रसन्न हुए कि राम से लड़ने का झंझट हमें नहीं करना पड़ेगा, अब तो ये परशुराम ही राम को समाप्त कर देंगे। परशुराम की पराजय का अभिप्राय यह है कि जहाँ पूर्ण अकर्तृत्व है, जहाँ पूर्ण निरभिमानिता है, जहाँ प्रदर्शन की वृत्ति नहीं है, वहाँ अन्त में परशुरामजी भी यह अनुभव करते हैं कि श्रीराम ने धनुष तोड़कर जहाँ यह सिद्ध कर ही दिया कि राम अभिमान से ऊपर उठे हुए हैं और जिस धनुष को मैंने इतने दिनों तक कन्धों पर ढोया, उसको धारण करके श्रीराम उसका उपयोग लोक कल्याण के लिए ही करेंगे। सांकेतिक अभिप्राय यह है कि मैंने प्रहार करना सीखा था, पर धनुष का त्याग करना नहीं सीखा था, लेकिन जब मैंने देखा कि मेरे गुरुजी का धनुष टूट गया है तो मुझे यह प्रेरणा मिली कि जो धनुष मेरे पास था, उस धनुष को मैं तुम्हें अर्पित कर दूँ। धनुर्भंग का अभिप्राय यही है कि अपने अहंकार रूप, जिस धनुष को मैं महत्वपूर्ण मानकर इतने वर्षों तक कन्धों पर रखे रहा, वह धनुष मैं आपको अर्पित करता हूँ और–

कहि जय जय रघुकुलकेतू।
भृगुपति गये बनहि तप हेतू॥ १/२८४/७

भगवान् राम की जय-जयकार करते हुए, उनकी प्रशंसा करते हुए, स्तुति करते हुए परशुराम चले जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुतः कर्म के साथ सबसे जटिल समस्या सर्वत्र यही है कि जहाँ दिखावे की वृत्ति है, वहाँ विचार बदलते देर नहीं लगती। देवता क्या मानें और कितनी बातें मानें? हम लोग तो नित्य नई-नई माँग करते रहते हैं और अपनी ही माँग आप ही काटते रहते हैं। राजा गणेशजी से प्रार्थना करते हैं कि धनुष तुड़वा दीजिए। जब नहीं टूटा तो किसी से मत तुड़वाइएगा। टूटे तो मुझसे ही, नहीं तो न टूटे। परशुरामजी आ गए तो कहा कि बड़ा अच्छा हुआ कि हमसे नहीं टूटा! हमारा संकल्प क्या है? और हम करना क्या चाहते हैं? तब हमारी वृत्ति का जो दोष है या तो दुर्बलता है, वह सामने आती है।

कैकेयी के चरित्र में कैकयराज के प्रदर्शन की वृत्ति है, यह छिलका हटा दिया तो जैसे रस ही रस है, वैसे भरत चरित्र में तो इतना श्रेष्ठ सत्कर्म है कि जिसकी कोई सीमा नहीं, कैकेयीजी क्या सुनकर बदल गई? मन्थरा ने यह कह दिया कि अब राम बदल गए हैं और अपनी माँ को अधिक चाहने लगे हैं, राम के राजा हो जाने के बाद आपको और भरत को कौसल्या की और राम की सेवा करनी पड़ेगी। इस बात को सुन करके कैकेयीजी उग्र हो गई, प्रतिक्रिया आ गई कि अच्छा ऐसी बात है! यही संसार में देखा जाता है। किसी के साथ हम अच्छा बर्ताव करते हैं और कोई यह कह दे कि वह तो आपके खिलाफ यह कह रहा था तो कुछ लोग तो कान के इतने कच्चे होते हैं कि उसने कहा हो न कहा हो, वे तो बिगड़ खड़े होते हैं। यह दुर्बलता कैकेयीजी के जीवन में भी विद्यमान है। मन्थरा ने केवल यह कह दिया कि श्रीराम ऐसा-ऐसा करने वाले हैं, बस! कैकेयी ने कहा कि अब मैं बताती हूँ। अब तो मैं बदला लेकर ही छोड़ूँगी। क्रिया में जब प्रदर्शन होगा तो बदला लेने की वृत्ति भी होगी और दूसरी ओर सन्त भरत हैं। उनकी वृत्ति क्या है?

भरत चित्रकूट की ओर जा रहे हैं और जाते-जाते उनके मन में एक भय होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि मेरे आने की बात सुनकर प्रभु कहीं चले न जाएँ! मुझ पापी का मुँह न देखना चाहें! प्रभु को जब यह समाचार मिलेगा कि मेरे कारण पिताजी की मृत्यु हो गई, तो शायद प्रभु मेरा मुँह देखना भी अस्वीकार कर दें। कैकेयी तो बिना अपमान हुए, केवल अपमान की कल्पना से ही श्रीराम की विरोधी हो गई और श्रीभरत कह रहे हैं कि नहीं, नहीं, मैं प्रभु के पास जाऊँगा। अगर कोई भरत से कह दे कि राम आपका अपमान करेंगे, तो उन्होंने तुरन्त कहा कि–

जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी।
जौं सनमानहिं सेवकु मानी॥ २/२३३/१

चाहे वे मेरा बहुत सम्मान करें और चाहे मेरा अत्यन्त अपमान करें, मेरे लिए कोई अन्तर नहीं है। एक सूत्र श्रीभरत ने अपने जीवन के लिए दिया कि–

मोरें सरन रामहि की पनही।
रामु सुस्वामि दोसु सब जनही॥ २/२३३/२

मैं तो भगवान् राम के जूतों की शरण में हूँ। मेरे लिए तो श्रीराम के जूते ही यथेष्ट हैं। इसका अभिप्राय क्या है? जूते को श्रीभरतजी ने अपना आदर्श चुना, अपना आराध्य चुना, भगवान् की शरणागति के लिए भगवान् के जूते की बात कही, वहाँ श्रीभरत की भावना यह थी कि शरणागति को तो जूते की तरह होना चाहिए। जब तक पशु जीवित है, तब तक उसके चमड़े का जूता नहीं बनेगा। पशु ने जब अपना प्राण दे दिया, तब उसके चमड़े का जूता बना और जिसके चरणों में वह जूता गया, उसकी काँटों से रक्षा की, उसकी सेवा की, उसको बचाया। शरणागति का मन्त्र यह है कि जब तक हम अपने को मार नहीं लेते, मार लेने का अर्थ आत्महत्या कर लेना नहीं है, मार लेने का अर्थ है कि जब तक हम अपनी इच्छाओं को प्रभु पर नहीं छोड़ देते, तब तक शरणागति नहीं होती। श्रीभरत के प्रेम की विशेषता बताते हुए कहा कि–

जौं न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुर धरनि धरत को॥ २/२३२/१
होत न भूतल भाउ भरत को।
अचर सचर चर अचर करत को॥ २/२३७/८

जैसे पशु ने अपना प्राण और जीवन दे दिया, उसी तरह से जिसने अपने आन्तरिक जीवन में अपने को पूरी तरह से शून्य बना लिया है, अपने आपको ईश्वर की इच्छा में पूरी तरह से समर्पित कर दिया है, वह मानो जीवित नहीं रहा, मृत हो गया है और उसके बाद भी जूते की विशेषता यह है कि उसे आप चाहे जितना सम्मान दीजिए और चाहे जितना अपमान कीजिए, वह तो आपकी सेवा ही करता है। काँटों पर चलना है तो जूता पहन लेते हैं और मन्दिर तक पहुँचे तो जूते को निकालकर बाहर ही छोड़ दिया। जूते ने उलाहना दिया कि आप काँटे पर चलते समय तो स्वार्थवश मुझे पहन रहे हैं और जब आप गद्दे पर सोने जा रहे हैं तो मुझे उतार दे रहे हैं। जूता इतना निरभिमानी है, मानापमान की भावना से इतना शून्य है कि आपने उसको निकालकर रख दिया फिर भी बाहर वह आपकी प्रतीक्षा कर रहा है और मानो उसकी प्रसन्नता इसी में है, उसका संकेत यह है, सन्देश यह है कि जब आपको

मेरी आवश्यकता हो, तब धारण कर लीजिए और जब आपको मेरी आवश्यकता न हो, आपको कोई संकट न हो, मेरा त्याग कर दीजिए और मैं यहीं बाहर बैठे-बैठे आपकी प्रतीक्षा करूँगा।

श्रीभरत ने कहा कि मेरे लिए तो बस, भगवान् के जूते ही सबसे बड़े आराध्य हैं। कैसा सम्मान और कैसा अपमान? मैं तो दोनों तरह से ठीक हूँ। इसलिए गोस्वामीजी ने बड़ा मधुर संकेत दिया कि श्रीभरत ने क्रियायोग का त्याग किया कि नहीं किया? श्रीभरत के जीवन में कर्म है कि नहीं? ज्ञान और उपासना के साथ-साथ भरत के जीवन में कर्म भी दिखाई दे रहा है, बल्कि कहना यह चाहिए कि श्रीभरत के जीवन में महान् कर्म है, सांकेतिक भाषा यही है कि वे कैकेयीजी का परित्याग नहीं करते हैं, अपितु कैकेयीजी के दोषों को मिटा करके कैकेयीजी को चित्रकूट की ओर ले जाते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि जीवन में क्रिया को नहीं छोड़ देना है। प्रदर्शन के भय के मारे यदि हम क्रिया करना ही छोड़ दें, तब तो कोई क्रिया कर ही नहीं पाएगा। इसलिए यदि प्रदर्शन की प्रेरणा से भी सद्क्रिया होती हो तो प्रारम्भ में होने दें, लेकिन बाद में सत्संग के द्वारा, विवेक के द्वारा, भक्ति और प्रेम के द्वारा धीरे-धीरे प्रदर्शनपूर्ण क्रिया समाप्त हो जानी चाहिए और हमारे अन्तःकरण में शुद्ध भावनामयी क्रिया रह जानी चाहिए। कैकेयीजी मानापमान की भावना में तीव्रतम रूप में भरी हुई हैं, परन्तु श्रीभरत में इस भावना का सर्वथा अभाव है और इसीलिए चित्रकूट में श्रीभरत और भगवान् राम में बड़ा प्रेमभरा और भावभरा मधुर संवाद हुआ। श्रीभरत कहते हैं कि मेरे समान संसार में कोई पापी नहीं है–

मोहि समान को पाप निवासू।
जेहि लगि सीय राम बनवासू॥ २/१७८/३

कैकेयीजी के चरित्र की दूसरी कमी यह थी कि वे अपने दोष नहीं देख पाती थीं। अपनी कमी नहीं देख पाती थीं। अपने में केवल विशेषता ही उनको दिखाई पड़ती थी। मन्थरा समझाने लगी तो कैकेयीजी ने यही कहा–

काह करौं सखि सूध सुभाऊ।
दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥ २/१६/७

क्या बताऊँ? मेरा तो भोला-भाला सरल स्वभाव है, मैं तो दाहिना

और बायाँ जानती ही नहीं। जो सचमुच भोला होता है, वह अपने को ऐसा थोड़े ही समझता है। जो अपने को समझे, वह तो बड़ा चतुर है, वह अपने भोलेपन की जो व्याख्या कर रहा है। कैकेयीजी को अपने में बहुत गुण दिखाई पड़ रहे हैं और इससे उल्टे श्रीभरत कहते हैं कि संसार में अगर कोई दूसरे जीव को कष्ट दे तो वह पापी माना जाता है, जिसके कारण साक्षात् भगवान् को कष्ट मिला, उससे बड़ा कोई पापी हो सकता है? श्रीराम ने चित्रकूट में भरत से यह कहा कि–

तीनि काल तिभुअन मत मोरें।
पुन्यसिलोक तात तर तोरें॥ २/२६२/६

तीनों काल में और तीनों लोकों में जितने भी पुण्यात्मा हुए हैं, वे तुमसे नीचे हैं अर्थात् तुम्हारे समान पुण्यात्मा तीनों लोकों में न तो हुआ है, न है और न होगा। आनन्द क्या है कि भरत अपनी निन्दा कर रहे हैं और श्रीराम प्रशंसा कर रहे हैं तथा इसके बाद भगवान् राम ने श्रीभरत के समक्ष एक समस्या खड़ी कर दी। सारा भाषण समाप्त करने के बाद श्रीराम ने कहा कि भरत! तुमने मेरा भाषण सुना तो तुम मुझे सत्यवादी मानते हो कि असत्यवादी? मैं जब तुम्हारी प्रशंसा कर रहा हूँ तो क्या मैं असत्यवादी हूँ। भरत ने अयोध्या में एक वाक्य कहा था कि–

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं।
रसा रसातल जाइहि तबहीं॥ २/१७८/२

क्या संकेत है? कैकेयीजी को इसमें जरा भी संकोच नहीं लगता कि राम के स्थान पर भरत राज्यसिंहासन पर बैठें और गुरु वसिष्ठ भी यही कहते हैं कि जिसका राज्य है, वह जिसको दे दे, राज्य उसी का है। अपनी इच्छा से कोई अपनी चीज किसी को देना चाहे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। दशरथजी का राज्य था और उन्होंने भरत को दे दिया तो भरत यदि राज्य करें तो उनका यह आचरण बिल्कुल धर्म के अनुकूल होगा, परन्तु भरत ने नहीं माना और धर्म के स्थान पर श्रीभरत ने धर्मसार अर्थात् धर्म के सूक्ष्म तत्त्व को प्रकट किया। भरत ने कहा कि राज्य दशरथजी का नहीं है, अज से मिला, अज को अपने पिता दिलीप से मिला, इस प्रकार ढूँढ़ते-ढूँढ़ते राज्य का मूल स्वामी कौन था? तो पता लगा कि–

संपति सब रघुपति कै आही। २/१६१/३

राज्य और सम्पत्ति जितनी है, वह तो सब एकमात्र प्रभु की है।

हमारे पिताजी को कोई अधिकार ही नहीं था कि वे राज्य मुझे अपनी इच्छा के अनुसार दे सकें, यदि उन्होंने देने की चेष्टा की तो मैं समझता हूँ कि–

मरन काल बिधि मति हर लीन्ही। २/१६१/३

अन्तिम समय में उनकी बुद्धि ठीक नहीं थी, उनका विवेक प्रबुद्ध नहीं था, इसलिए उनसे इतनी बड़ी भूल हो गई। श्रीभरत ने अयोध्यावासियों से कहा कि यदि आप लोग हठ करके मुझे सिंहासन पर बैठा देंगे तो जानते हैं क्या होगा? हम भूदेवी और लक्ष्मी को भगवान् की पत्नी मानते हैं और अगर दूसरे की पत्नी को कोई अपनी बनाने की दृष्टि से देखे तो उससे बढ़कर विकृत मस्तिष्क वाला कोई और नहीं माना जाएगा। पृथ्वी माने अचल सम्पत्ति और श्री माने चल सम्पत्ति, चल और अचल दोनों सम्पत्ति के स्वामी भगवान् हैं। एक स्त्री के पुत्र तो कई हो सकते हैं, परन्तु पति तो एक ही है। इसी प्रकार से ईश्वर स्वामी है और हम पुत्र बन करके, लक्ष्मी के पुत्र बन करके बालक के रूप में उनका प्रसाद ग्रहण करें, पृथ्वी के भी बालक बन करके हम अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करें। माँ से बालक अपनी आवश्यकताओं को पूरी कर लेता है, तब तो ठीक है, लेकिन यदि हम अधिकार की वृत्ति करें और वह भी भगवान् की जो शक्ति हैं भगवान् की जो प्रिया हैं उनके साथ, तो फिर इससे बड़ा अपराध और क्या होगा?

श्रीभरत ने कहा कि यदि आप लोग मुझे राज्य दे देंगे तो पृथ्वी लज्जा के मारे रसातल को चली जाएगी, क्योंकि वह सोचेगी कि अभी तक तो जो बुरे व्यक्ति थे, वे ही मुझ पर अधिकार करने की चेष्टा करते थे, परन्तु अब भरत जैसा राम का भाई भी यह पाप करने के लिए तैयार हो गया तो मेरा रसातल में चला जाना ही ठीक है, क्योंकि भरत से अच्छा तो रसातल और पाताल लोक में रहने वाला बलि है, जिसने सारी पृथ्वी भगवान् को अर्पित कर दी, अपना अहंकार भगवान् को अर्पित कर दिया। इस तरह से पृथ्वी को लगेगा कि भरत की अपेक्षा तो श्रेष्ठ चरित्र दैत्यों का है। इसलिए आप लोग मुझे राज्य देने का अनुरोध मत कीजिए। श्रीराम ने भरत से कहा कि भरत! जब मैं तुम्हारी प्रशंसा कर रहा हूँ तो मैं ठीक ही कर रहा हूँ, मैं सत्यवादी हूँ और आज मैं शंकरजी की शपथ लेकर कहता हूँ कि–

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी।
भरत भूमि रह राउरि राखी॥ २/२६३/१

भरत! यदि तुम स्वीकार करोगे तो यह पृथ्वी बचेगी और यदि तुम स्वीकार नहीं करोगे तो यह पृथ्वी रसातल को चली जाएगी। भगवान् राम की दृष्टि क्या है? भगवान् राम ने कहा कि भरत! यदि तुम जैसे व्यक्ति भी अपने चरित्र के द्वारा, अपने आचरण के द्वारा पृथ्वी और लक्ष्मी का यह सोचकर त्याग कर देंगे कि ये तो भगवान् की प्रिया हैं तो पृथ्वी एवं लक्ष्मी का क्या होगा? जैसे बालक माँ की सेवा करता है, उसी प्रकार से तुम जैसे सन्त पृथ्वी को स्वीकार करके उनमें माँ की भावना रखकर सेवा करें। अगर तुम जैसे सन्तों ने भी यह कहा कि मैं राज्य नहीं लूँगा, तब भरत तुम बताओ कि किसको राज्य मिलेगा? फिर तो दैत्य और राक्षस तो बेचैन हो रहे हैं राज्य और सम्पत्ति पाने के लिए। उनके अधिकार में यह राज्य चला जाएगा! मैं तो यह चाहता हूँ कि तुम राज्य को अस्वीकार मत करो, स्वीकार करके तुम यह दिखाओ कि कैसे कर्त्तव्य का पालन किया जाए? कैसे सेवक बनकर राज्य का संचालन किया जाए? जीवन में कैसे कर्म किया जाए? यह दिखलाओ! श्रीराम ने जब भरत से पूछा कि भरत! मैंने जो कुछ कहा है, वह सत्य है कि नहीं? तब श्रीभरत ने कहा कि प्रभु! आपने जो कहा सो अक्षरशः सत्य है। तब श्रीराम ने कहा कि भरत! अब तुम यह कहने की गलती दुबारा भूलकर भी मत करना कि मैं पापी हूँ।

श्रीभरत ने कहा कि प्रभु! मैंने जो कहा वह भी सत्य है और आप जो कह रहे हैं, वह भी सत्य है। प्रभु ने कहा कि यह कैसे हो सकता है? तुम कहते हो भरत सबसे बड़ा पापी और मैं कहता हूँ, कि भरत सबसे बड़ा पुण्यात्मा तो दोनों सत्य कैसे हो सकते हैं? दोनों में से एक ही सत्य होगा। श्रीभरत ने एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया कि लोहा लोहा है, लेकिन पारस के संस्पर्श से सोना हो जाता है। भरत ने कहा कि मेरा हृदय लोहा है, परन्तु आपके चरणों के संस्पर्श से, पारस के संस्पर्श से वह सोना बन गया। मैं तो चित्रकूट में अपने लोहे के हृदय को लेकर पारस खोजने के लिए ही आया था–

हरषहिं निरखि राम पद अंका।
मानहुँ पारसु पायउ रंका॥

रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥ २/२३७/३

भगवान् श्रीराम ने जो प्रशंसा की, बात कही, उसको इतने बढ़िया ढंग से भरतजी ने लौटा दिया और पूछा कि प्रभु! बन्दर यदि बहुत सुन्दर नाचने लगे और तोता बहुत सुन्दर पाठ पढ़ने लगे तो इसमें विशेषता नचाने और पढ़ाने वाले की होती है। बड़ी सांकेतिक भाषा है भरत की कि सत्कर्म मानो भूषण हैं और असत् कर्म या दुष्कर्म मानो दूषण हैं। जीवन में सत्कर्म के द्वारा धन्यता प्राप्त होती है। रामायण की एक सांकेतिक भाषा है कि शंकरजी ने द्वितीया के टेढ़े चन्द्रमा को आभूषण बनाया, पूर्ण चन्द्रमा को नहीं और शरीर पर हीरे-मोती और सोने-जवाहरात के स्थान पर सर्पों को आभूषण बनाया। अतः नारदजी ने पार्वतीजी का हाथ देखकर हिमालय को बताया था–

अगुन अमान मातु पितु हीना।
उदासीन सब संसय छीना॥
जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥ १/६७

सुनकर हिमालय को बड़ा दुःख हुआ कि यह कैसा भाग्य? नारदजी ने कहा–

कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥ १/६८

प्रारब्ध यदि अमिट है तो साधना या पूजा-पाठ की क्या आवश्यकता? चेष्टा की क्या आवश्यकता? यदि कोई रोग बताए और दवा न बताए तो यह और भी खतरनाक है। अगर रोग का पता नहीं है तो जब मृत्यु आएगी, तब आ जाएगी, परन्तु कोई रोग तो बता दे, पर कह दे कि इस रोग की कोई दवा नहीं है, तब तो रोगी रोग सुनकर ही अधमरा हो जाएगा। इसी प्रकार से यदि यह बता दिया जाए कि प्रारब्ध खराब है और बदल नहीं सकता, तब तो रोग बता दिया और दवा नहीं बताई, लेकिन नारदजी तो सन्त हैं, इसलिए कहा कि एक उपाय मैं बता रहा हूँ कि आपकी कन्या शंकरजी से विवाह करने की इच्छा से तपस्या करे–

जे जे बर के दोष बखाने।
ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने॥

जौं बिबाहु संकर सन होई।
दोषउ गुन सम कह सबु कोई॥ १/६८/३-४

शंकरजी की कला यह है कि वे दोषों को गुण बना देते हैं। अन्य देवता अमृत पीकर अमर होते हैं, पर शंकरजी विष पीकर अमर होते हैं। वैद्य की कला यह है कि वह संखिया के विषत्व को मिटाकर उसमें भी अमृतत्व की सृष्टि कर देता है। शंकरजी में दोष हैं नहीं, लेकिन वे दोषों को स्वीकार करते हैं, दोषों को गुण बनाने के लिए। शंकरजी टेढ़े चन्द्रमा को भी ऊपर उठाकर उसे वन्दनीय बना देते हैं, विष को भी अमृत बना देते हैं, यही उनके जीवन की कला है। यदि कला ठीक नहीं है तो गुण भी दोष बन सकते हैं। रामायण के जो बुरे पात्र हैं, उनके जीवन में भी गुण हैं, परन्तु उन्होंने गुण को दोष बना दिया।

एक विचित्र बात रामायण में आती है कि जितने बुरे पात्र हैं, उन सबको किसी न किसी देवी-देवता का वरदान प्राप्त है, चाहे मेघनाद हो, चाहे रावण हो, चाहे कुम्भकर्ण हो, सबको वरदान मिला और इधर घूमकर देखिए तो जिसको मिला, शाप ही मिला। नारदजी ने विष्णु भगवान् को शाप दे दिया, हनुमान्‌जी को ऋषियों ने शाप दे दिया, नल-नील को ऋषियों ने शाप दे दिया, लेकिन बात बिल्कुल उल्टी हो गई। जिनको वरदान मिला, उनकी तो गिनती दुष्टों में हो गई और जिनको शाप मिला, उनकी पूजा होने लगी। यही जीवन की कला है। कई लोग वरदान को भी शाप बना देते हैं और कई लोग कला में इतने निपुण होते हैं कि शाप को भी वरदान बना लेते हैं। सत्कर्म के द्वारा कल्याण होता है, यह कर्मयोग है और भक्तियोग की मान्यता है कि जो-जो कमी मानी जाती है, व्यक्ति उस कमी को भी यदि भगवान् की ओर मोड़ दे–

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। ७/१३०/ख

तो हमारी कमी भी भगवान् के पास पहुँच करके, दोष दोष न रह करके गुण बन जाता है। श्रीभरतजी ने कहा कि प्रभु! भरत तो दोषों का पुंज है, लेकिन अच्छा यही हुआ कि उन दोषों को लेकर आपके पास आ गया। भरत में यदि कोई विशेषता दिखाई दे रही है तो भरत तो तोते और बन्दर की तरह है उसको सिखाने और नचाने वाले तो आप हैं। इसलिए प्रशंसा करनी है तो अपनी कीजिए, मेरी प्रशंसा करने से सत्य कैसे सिद्ध होगा? साथ-साथ भरत ने कहा कि–

कृपाँ भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु चहु ओर॥ २/२६८

आपने उन दोषों को गुणों में परिवर्तित कर दिया। दूसरा व्यक्ति होता तो यह कहता कि कैसे मैं पिता की आज्ञा टाल करके वन में चला गया। आप मुझे दण्ड देते कि तुम पिता की बात टालते हो! मेरी बात टालते हो! अपराधी हो, लेकिन आपकी विशेषता यह है कि आपने इसमें मेरा स्नेह देखा, आपने मेरे हठ को, मेरे आग्रह को स्नेह मान लिया–

प्रभु मानी सनेह सेवकाई। २/२९७/८

वस्तुतः आप दूषण को भूषण बनाने की कला जानते हैं, भरत तो दोषों का पुंज था, भरत तो लोहा था, लेकिन आपने संस्पर्श से उसे पारस बना दिया है तो यह आपकी ही विशेषता है, मेरी विशेषता नहीं। श्रीभरत लौटकर अयोध्या आए और चौदह वर्ष तक राज्य चलाया। कर्म किए बिना छुट्टी नहीं हो सकती। श्रीभरत चाहते तो वन में भी रह सकते थे और उन्होंने भगवान् राम से यह कहा भी कि अगर आपकी आज्ञा हो तो मैं आपके साथ वन चलूँ, लक्ष्मण लौट जाएँ, लेकिन भगवान् ने कहा कि नहीं भरत! सांकेतिक भाषा क्या है? लक्ष्मणजी सुमित्रा अम्बा के पुत्र हैं, उपासना के बेटे हैं और श्रीभरत मूर्तिमती क्रिया कैकेयी के बेटे हैं। श्रीराम का संकेत यह है कि उपासना का स्वरूप लक्ष्मण के चरित्र में ही है, क्योंकि सब कुछ छोड़ करके वे मेरी सेवा में हैं, लेकिन भरत! तुम जैसे महापुरुष को यह करके दिखाना चाहिए कि सब कुछ छोड़े बिना भी सब कुछ छोड़ा जा सकता है। वस्तुओं में रहकर भी उन वस्तुओं की आसक्ति छोड़ी जा सकती है। क्रिया के तीन दोष हैं, जिनकी चर्चा पिछले प्रवचनों में की जा चुकी है, क्रिया में अहंकार और कर्तृत्व, क्रिया में आसक्ति और क्रिया में फलाकांक्षा ये तीन दोष हैं। यदि इन तीनों को व्यक्ति जी सके अर्थात् क्रिया तो हो, पर स्वयं कर्म करने का अहंकार न हो। क्रिया तो हो, पर व्यक्ति के मन में उससे चिपक जाने की, डूब जाने की आसक्ति न हो। क्रिया के बदले में यह मिले! वह मिले! यह आकांक्षा यदि मिट जाए तो क्रिया धन्य है। इन तीनों को किसने मिटाया?

श्रीभरत को भगवान् राम आदेश देते हैं कि भरत! तुम क्रिया के महान् पक्ष को संसार के सामने प्रकट करो, तुम राज्य चलाओ, तुम समाज का संचालन करो और सब कुछ करते हुए भी अनासक्त और अकर्त्ता

हो करके तुम्हारे जीवन में कर्म-फलाकांक्षा न हो ऐसा आदर्श संसार के समक्ष रखो। कर्म-फलाकांक्षा श्रीभरत में है ही नहीं। त्रिवेणी के तट पर खड़े होकर श्रीभरत माँगने लगे तो ऐसा लगा कि न जाने क्या माँगेंगे? परन्तु भरत की विशेषता यह है कि–

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।

जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥ २/२०४

यह सुनकर त्रिवेणी बोलीं ही नहीं और जब भरत ने पूछा कि आप क्यों नहीं दे रही हैं? तो त्रिवेणी ने कहा कि भरत! तुम्हारी बात सुनकर मुझको लगा कि तुम मुझसे माँगो कि मैं तुमसे माँगूँ। जिसके पास जो चीज हो, उसी को तो वह दे सकता है? तुम मुझसे राम-प्रेम माँग रहे हो तो मुझे तो तुममें ही दिखाई दे रहा है। इसलिए मैं तो यही चाहूँगी कि तुम मुझमें स्नान करो। जो पाप लेकर आते हैं, वे मुझमें स्नान करके पाप डाल देते हैं, लेकिन जब तुम जैसा प्रेमी स्नान करेगा तो तुम्हारा प्रेमरस भी हमारे जीवन में घुल जाएगा और मैं धन्य हो जाऊँगी। श्रीभरत के जीवन में कर्मफलाकांक्षा का सर्वथा अभाव है। बिना कर्मफलाकांक्षा के क्रिया कैसी और उस क्रिया का दर्शन क्या है? जब निश्चय हो गया कि श्रीभरत अयोध्या लौटकर जाएँगे तो श्रीभरत ने प्रभु के चरणों को कसकर पकड़ लिया और कहा कि प्रभु! मैं कर्म करूँगा तो, लेकिन इसके लिए कोई आधार तो दीजिए–

बिनु अधार मन तोषु न साँती। २/३१५/२

यह बड़े महत्त्व की बात है, बड़े काम की बात है। इसका अर्थ है कि जिसमें कर्म-फलाकांक्षा है, उसके मन में कर्म करने का उत्साह बना रहता है, जिसमें आसक्ति है, उसके मन में भी कर्म करने का उत्साह बना रहता है, अपने आप प्रेरणा मिलती रहती है और जिसके मन में कर्त्तापन होता है, उसके मन में भी कर्त्तापन की प्रेरणा मिलती है, लेकिन यदि तीनों न हों तो कर्म कैसे होगा? किस आधार पर कर्म होगा? भगवान् राम ने देखा और कहा कि अच्छा! तुम आधार चाहते हो। मैं आधार देता हूँ। हुआ यह था कि श्रीभरत भगवान् राम के राज्याभिषेक के लिए सब सामग्री लाए थे, जैसे छत्र, मुकुट आदि, लेकिन राजा के चरणों में पादुका भी पहनायी जाती है, इसलिए श्रीभरत पादुका भी लाए थे। प्रभु पादुका के ऊपर खड़े हो गए और फिर वही पादुका अपने हाथों में ली और

उठाकर कहा कि भरत! यह लो, तुम इनको लेकर के जाओ और अयोध्या जाकर राज्य चलाओ, अपने कर्त्तव्यकर्म का पालन करो–

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं।

सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥ २/३१५/४

श्रीभरत उनको सिर पर रखकर आनन्द से नाचने लगे। प्रभु ने जिज्ञासा भरी दृष्टि से भरत की ओर देखा कि भरत! क्या मिला? आधार मिला कि भार मिला? मैंने पादुका दी, यदि तुम उनको पैरों में पहन लेते हो तो आधार हो जाता है, परन्तु जब तुम इनको सिर पर ढो रहे हो, तब तो भार ही है। तुमने मुझसे आधार माँगा, परन्तु भई! मैं तो तुम्हें भार ही दूँगा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि समाज की सेवा के भार को तुम जैसा सन्त ही वहन कर सकता है। वस्तुतः मेरी सेवा का भार भी तुम्हारे ही सिर पर है। इसलिए समग्र भार मैं तुम्हें सौंप रहा हूँ। पादुका ही नहीं, यह समस्त धर्म है, पादुका क्या है?–

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥
चरनपीठ करुनानिधान के।
जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥ २/३१५/४-५
कुल कपाट कर कुसल करम के।
बिमल नयन सेवा सुधरम के॥
भरत मुदित अवलंब लहे तें।
अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥ २/३१५/७-८

भरत! तुम्हारे ऊपर धर्म का भार है, ज्ञान का भार है–

जौं न होत जग जनम भरत को।

सकल धरम धुर धरनि धरत को॥ २/२३२/१

भरत! तुम कैकेयी के पुत्र हो! कैकेयी क्रिया हैं और भरत मूर्तिमान् धर्म हैं। धर्म वह है जो समाज को धारण करे। भरत! तुम साक्षात् धर्म हो और धर्म होने के नाते सारे समाज के ज्ञान, वैराग्य और कर्त्तव्य धर्म का बोझ मैं तुम्हारे सिर पर सौंप रहा हूँ। श्रीभरत मुस्कराए और बोले कि महाराज! मुझे भार भी मिला और आधार भी मिला। देखने में तो भार मिला, पर गहराई से जब मैं देखता हूँ तो आधार मिला। भार और आधार में अन्तर क्या है? सारे शरीर का भार हम पादुका पर डाल देते हैं। इतना

बड़ा शरीर और छोटी-सी पादुका और उस पर जाकर खड़े हो गए तो क्या पादुका को बोझ से थकान आती है? पादुका से पूछा जाए तो वह यही कहेगी कि थकान क्यों आएगी? भले आप मुझ पर खड़े हैं, परन्तु जब चलेंगे तो आप ही मुझको ढोएँगे, मैं आपको ढोने वाली नहीं। चरण जूते को लेकर चल रहा कि जूता चरण को लेकर चल रहा है? वस्तुतः चरण ही जूते को लेकर चल रहा है। बोले कि प्रभु! आपने तो भार का सारा रहस्य ही बता दिया कि संसार में व्यक्ति ही दिखाई देता है ढोने वाला, परन्तु वस्तुतः सारा बोझ तो आप पर ही होता है।

जीव जब यह मान लेता है कि यह सारा भार, सारा कर्त्तव्यकर्म मेरे ऊपर है, तभी वह बोझ से दबता है, लेकिन जब वह समझ लेता है कि कर्त्तव्यकर्म और उसके पीछे जो प्रेरणा देने की शक्ति है, कर्म करने की और भार उठाने की जो क्षमता है, वह तो आपके द्वारा प्राप्त होती है, इसलिए प्रभु! किसका भार? सचमुच यह भार नहीं है, इस भार में कितना आनन्द है? श्रीभरत ने उन्हीं पादुकाओं को सिंहासन पर बैठा दिया और गुरु वसिष्ठ से पूछा कि गुरुदेव! मैं पादुकाओं को सिंहासन पर बैठा दूँ? भरत की बात सुनकर गुरु वसिष्ठ गद्‌गद हो गए और बोले कि भरत! मैं तो अब तक धर्म की व्याख्या शास्त्र के द्वारा किया करता था, लेकिन अब तो मेरा एक ही निर्णय है–

समुझब कहब करब तुम्ह जोई।
धरम सारु जग होइहि सोई॥ २/३२२/८

वही धर्मसार शब्द जो कथा के प्रारम्भ में आपके सामने कहा गया था, अर्थात् भरत! तुम जो समझोगे, जो कहोगे और जो करोगे, वही धर्म का सार होगा। कैकेयी में जो त्याज्य तत्त्व है, जो छिलका है, जो गुठली है, उन सबको श्रीभरत के चरित्र में अलग कर दिया गया है। श्रीभरत द्वारा पादुकाओं को सिंहासन पर बैठाने में उनकी क्या भावना थी? कैसे हम संसार में कर्त्तव्य धर्म का पालन करें? जब सिंहासन पर व्यक्ति बैठेगा, पद ग्रहण करेगा तो यह मान लेगा कि लक्ष्मी का, सम्पत्ति का, पृथ्वी का स्वामी मैं हूँ, पर पद और पादुका का बड़ा अद्‌भुत सम्बन्ध है। श्रीभरत ने पादुकाओं को सिंहासन पर रख दिया। प्रत्येक व्यक्ति को क्या दिखाई देगा? चाहे जूता एक ही दूकान से ले आएँ लेकिन पहनने के बाद, सबके पैर की बनावट इतनी अलग है कि जूता उसी प्रकार से अपने को बदल

लेता है, जिस प्रकार से पैर की रचना हुई है और फिर वह जूता पैर को ऐसा पहचानता है कि दोहावली रामायण में तुलसीदासजी ने कहा–

बिन आँखिन की पानहीं पहिचानत लखि पाय। (दोहावली-४८२)

यदि धोखे से भी किसी दूसरे के जूते में पैर चला जाए तो जूता आपको बता देगा कि हम आपके नहीं हैं, कृपा करके आप अपना पैर निकाल लीजिए। सभ्य होगा तो निकाल लेगा, चोर की बात मैं नहीं कर रहा हूँ। श्रीभरत ने कहा कि पादुका को सिंहासन पर मैंने इसलिए रख दिया और पैरों में इसलिए नहीं पहना कि यदि मेरी पादुका होती तो मैं पहन लेता, परन्तु जब यह पादुका प्रभु की ही पादुका है और प्रभु की पादुका में यदि हम अपना पैर घुसेड़ने की चेष्टा करेंगे तो चोर कहलाएँगे। जो कुछ वस्तु है, सम्पत्ति है, सब भगवान् की है और हम केवल निमित्त बन करके, यन्त्र बन करके उनके आदेश का पालन करने वाले हैं, यह वृत्ति ले करके जब कर्तव्यकर्म का पालन किया जाता है जैसा कि श्रीभरत ने किया, तो मानो इसका अभिप्राय यह है कि कैकेयी का अहंकार, आसक्ति और फल की इच्छा, इन तीनों दोषों का निराकरण श्रीभरत के द्वारा हो गया–

लखन राम सिय कानन बसहीं।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥ २/३२५/२

वन में रहकर तप करना सरल है, पर घर में रहकर तप कर लेना दुष्कर है, पर धन्य हैं श्रीभरत!–

अवध राजु सुर राजु सिहाई।
दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक बागा॥ २/३२३/६-७

जैसे भौंरा चम्पा के बगीचे में रहकर भी चम्पा के पुष्प का रस नहीं लेता, इसी प्रकार से अनासक्त भाव से, अकर्त्तृत्व के भाव से और फलाकांक्षारहित हो करके, चौदह वर्ष तक भरत राज्य चलाते हैं और तब जो रामराज्य बनता है, उस रामराज्य की मान्यता यह है कि वस्तुतः सोने के सिंहासन पर बैठने से रामराज्य नहीं बनता है, जब जीव के हृदय सिंहासन पर भगवान् बैठ जाएँ और श्रीभरत के समान क्रिया के ये तीनों दोष मिट जाएँ, तब हमारे जीवन में रामराज्य, जैसा उस युग में बना,

वैसा इस युग में भी बन सकता है। इस प्रकार जब लंका पर विजय करके भगवान् राम लौटे तो कैकेयीजी लज्जा के मारे, संकोच के मारे गड़ी जा रही हैं कि इतने दिनों तक जो राम को कष्ट हुआ और अयोध्यावासियों को जो इतनी पीड़ा हुई, सब मेरे कारण हुई, लेकिन लिखा हुआ है कि श्रीराम के साथ-साथ यदि कैकेयी के एक और प्रशंसक हैं तो श्रीलक्ष्मणजी महाराज हैं। लक्ष्मणजी ने सब माताओं को केवल एक बार प्रणाम किया, पर गोस्वामीजी ने कहा–

लछिमन सब मातन्ह मिलि हरषे आसिष पाइ।
कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले मन कर छोभु न जाइ॥ (७/६/क)

श्रीलक्ष्मणजी कैकेयीजी को बार-बार प्रणाम करते हैं, अनेकों बार कैकेयी के हृदय से लगे, फिर भी हृदय में सन्तोष नहीं हो रहा है। क्यों? लक्ष्मणजी ने मानो यह कहा कि माँ सबने तुम्हें छोड़ दिया है, लेकिन सबके बदले में मैं अकेला ही कहता हूँ कि अगर आप न होतीं तो अन्ततोगत्वा श्रीभरतचरित्र का प्राकट्य और प्रभु के द्वारा रावण पर विजय, ये दोनों कार्य न हो पाते। इसलिए क्रिया के दोषयुक्त होने पर भी यदि अन्तातोगत्वा क्रिया के दोषों का धीरे-धीरे निराकरण हो जाए तो श्रीभरतराज्य और रामराज्य की स्थापना हो सकती है।

कैकेयीजी इस तरह से श्रीभरत की जननी के रूप में, धर्म की जननी के रूप में वन्दिता हैं और आसक्ति, कर्तृत्व और फलासक्ति की बेटी के रूप में निन्दिता हैं और इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि निन्दन और वन्दन से हम कुछ न लें। अपने जीवन में हम दोषों के परित्याग की चेष्टा करें और उन गुणों को ग्रहण करने की चेष्टा करें, जो श्रीभरत के व्यक्तित्व में व्यक्त होते हैं, यही इस प्रसंग का तात्पर्य है। फलतः रामायण में सभी प्रसंग अगाध और अनन्त हैं।

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल।
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहउ अनुकूल॥

□□